



Tibetan Buddhist Resource Center

Text Scan Input Form - Title Page

Work:	W4CZ307970	ImageGroup:	I4CZ308218
LCCN:	n/a	ISBN:	n/a

Title:	སྟོང་ཉིད་བདུ་ཅུ་པ། stong nyid bdu cu pa/
Author:	ཀླུ་སྒྲུབ། klu sgrub
Descriptor:	copy made available from the Library of Tibetan Works and Archives, LTWA acc No:17366
Original Publication:	Bibliotheca indo Tibetica ;viii
Place:	sarnath, varanasi, u.p.
Publisher:	[central institute of higher tibetan studies]
Date:	1985
Volume:	1
Total Volumes:	1
TBRC Pages:	2
Introductory Pages:	n/a
Text Pages:	n/a
Scanning Information:	Scanned at Tibetan Buddhist Resource Center, 1430 Massachusetts Avenue, Cambridge, MA 02138 US.

7366

BIBLIOTHECA INDO-TIBETICA-VIII

भोट-भारतीय ग्रन्थमाला-८

शून्यतासप्ततिः

आर्यनागार्जुनप्रणीता

स्वोपज्ञवृत्त्या समन्विता



ཉེ་མཆོད་པདུན་ཙམ།

ཉེ་མཆོད་པདུན་ཉེ་མཆོད་པདུན་ཙམ།

SŪNYATĀSAPTATIḤ

of

ĀRYA NĀGĀRJUNA

संस्कृत-पुनरुद्धारक, हिन्दी-अनुवादक एवं सम्पादक

आचार्य सेम्पा दोर्जे



भोटबिद्या संस्थानम्

7366

केन्द्रीय उच्च तिब्बती-शिक्षा-संस्थान, सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द-२५२९

सन्-१९८५

CENTRAL INSTITUTE OF HIGHER TIBETAN STUDIES
SARNATH, VARANASI

BIBLIOTHECA INDO-TIBETICA-VIII

भोट-भारतीय ग्रन्थमाला-८

शून्यतासप्ततिः

आर्यनागार्जुनप्रणीता
स्वोपज्ञवृत्त्या समन्विता



ཨོང་ཉིད་བརྟན་ཅུ་པ།
སྟོབ་དཔོན་ཁྱུ་སྐྱབ་ཀྱིས་མཛད་པ།

SŪNYATĀSAPTATIḤ

of

ĀRYA NĀGĀRJUNA

संस्कृत-पुनरुद्धारक, हिन्दी-अनुवादक एवं सम्पादक
आचार्य सेम्पा दोर्जे



भोटबिद्या संस्थानम्

केन्द्रीय उच्च तिब्बती-शिक्षा-संस्थान, सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द-२५२९



सन्-१९८५

CENTRAL INSTITUTE OF HIGHER TIBETAN STUDIES
SARNATH, VARANASI

BIBLIOTHECA INDO-TIBETICA-VIII

भोट-भारतीय ग्रन्थमाला—८

सामान्य-सम्पादकः—भिक्षु समदोङ्, रिनपोछे
General Editor : Ven. Samdhong Rinpoché

*

First Edition—500 copies

*

All Rights Reserved.

1985

*

Published by ;
Central Institute of Higher Tibetan Studies
Sarnath, Varanasi—221007 (India)

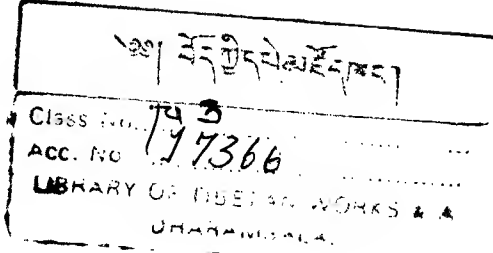
*Printed by ; Sattanam Printing Press, S 4/67, C-3 Dariya
Ashram, Pandeypur, Sarnath Road, Varanasi-2*

विषयानुक्रमणी

1. प्रकाशकीय	i-iv
2. दो शब्द	क-ख
3. भूमिका	१-२०
4. मूलग्रन्थ	१-७०
5. परिशिष्ट—I	७१-७२
6. परिशिष्ट—II	७३-७५

भाग-II

7. मूलग्रन्थ (तिब्बती)	१-४३
8. परिशिष्ट	४५-५१
9. टिप्पणी	५३-८४



དཀར་ཆག །

- | | |
|----------------------------|-------|
| 1. དབར་སྐྱུན་པའི་ཆེད་བཟོད། | i-iv |
| 2. རྩིག་ཁ་གཉིས། | ཁ-མ |
| 3. སྐྱེང་གཞི། | 1-20 |
| 4. སྤོང་ཉིད་བརྟན་ཅུ་པ། | 1-70 |
| 5. རྩར་བཞོལ་དང་བོ། | 71-72 |
| 6. རྩར་བཞོལ་གཉིས་པ། | 73-75 |

སྤེ་ཚན་གཉིས་པ།

- | | |
|-------------------------------------|-------|
| 7. སྤོང་ཉིད་བརྟན་ཅུ་པ། (བོད་སྐད་) | 1-43 |
| 8. རྩར་བཞོལ། | 45-51 |
| 9. ཤོག་གྲངས་སོ་སོའི་མཆན་རྩར་བཞོལ། | 53-84 |

प्रकाशकीय

महायान बौद्ध दर्शन के अध्ययन आचार्य नागार्जुन एवं असंग द्वारा रचित समस्त मूल ग्रन्थों के उपलब्ध न होने से एकांगी एवं भ्रान्त हो जाते हैं, क्योंकि यही दो आचार्य महायान के सर्वमान्य मार्ग प्रवर्तक हैं। इन आचार्यों के द्वारा लिखे गये अनेक शास्त्र एक दूसरे के पूरक हैं जिनमें से सबका अध्ययन न करने पर अभिप्राय को सम्यक् रूप से समझने में कठिनाई ही नहीं होती है, अपितु निष्कर्ष भी भ्रान्तिपूर्ण हो जा सकते हैं। आचार्य नागार्जुन द्वारा रचित मध्यमक शास्त्रों में छह महाकृतियाँ ऐसी हैं जो “युक्तिषड्वगं” के नाम से भोट विद्वानों में प्रसिद्ध हैं। इनमें शून्यता-सप्तति अन्यतम है। अभी तक इन छह शास्त्रों में से मध्यमक-मूल कारिका, विग्रह व्यावर्तिनी एवं आंशिक रूप से रत्नावली ही संस्कृत में उपलब्ध रहे हैं। शेष तीन शून्यतासप्तति, युक्तिषष्टिका और वैदल्य सूत्र मूल संस्कृत में न मिलकर भोट अथवा चीनी अनुवाद मात्र में प्राप्त होते हैं जिनके संस्कृत में पुनरुद्धार करने का विशेष महत्व समझा गया।

इस दिशा में आचार्य सेम्पा दोर्जे ने कुछ समय पूर्व वैदल्यसूत्र का पुनरुद्धार एवं हिन्दी अनुवाद किया था जो प्रकाशित हो चुका है। अतः इस संस्थान की पुनरुद्धार योजनाओं में युक्तिषष्टिका, शून्यता-सप्तति एवं अनुपलब्ध रत्नावली के अंश भी लिए गए हैं। सेम्पा जी ने इस योजना के अन्तर्गत “शून्यता-सप्तति” के तिब्बती मूल का संशोधित संस्करण, संस्कृत पुनरुद्धार, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत टिप्पणियों के साथ तैयार किया है, जो संस्थान के भोट-भारती ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित किया जा रहा है।

आशा है कि इससे जिज्ञासुओं को नागार्जुन के सिद्धान्तों को पूर्णरूप से समझने में सहायता मिलेगी।

बहुभाषीय मुद्रण व्यवस्था की कठिनाई के कारण इस प्रकाशन में न केवल बिलम्ब ही हुआ, अपितु आशानुसार छपाई भी नहीं हो सकी, इसका हमें खेद है।

वाराणसी

समदोङ्ग रिनपोछे

३-६-१९८५

དཔར་སྐྱོན་པའི་ཆེད་བརྗོད།

༡། ཁྱིམ་པ་ཆེན་པོ་འི་ཆོས་ཚུལ་ལ་ཐོས་བསམ་གྱིས་འཇུག་པར་
 འདོད་པ་དག་གིང་དྲ་ཆེན་པོ་ནམས་ཀྱི་གཞུང་ལུགས་ཡོངས་རྫོགས་ལ་སྟོན་པ་
 རེ་བ་དང་རགས་པ་རེ་ཅམ་མ་ཡིན་པར་ཀུན་ལ་ཞིབ་དྲ་མ་སྦྱངས་ན་རྒྱལ་བའི་
 དགོངས་ཟབ་རྩི་བཞིན་དོགས་སེ་རུས་པར་སེ་ཟད། འོག་དོག་གི་ལམ་དུ་
 འཕྱན་པའི་ཉེན་ཆེ། རྣམ་པར་འཕགས་མཚོག་སྐྱུ་ས་མཛད་པའི་དབུ་མའི་
 གཞུང་ནམས་ཀྱི་ནང་ནས་ཁྱད་པར་དུ་འཕགས་པ་རིགས་པའི་ཚོགས་དུག་དུ་
 གངས་ཅན་གྱི་མཁས་པར་ཡོངས་སུ་གྲགས་པ་དེ་ནི་གཞུང་གཅིག་གི་ཡན་ལག་
 དུ་པན་ཚུན་ཁ་སྐྱོངས་ཆུང་བརྒན་ཉ་ལུང་བཞུགས་པས་ཀུན་ལ་མ་སྦྱངས་སུ་སྤི་
 རུང་བ་ཞིག་ཡིན་མོད། འཕགས་པའི་སྐྱོངས་འདར་བྱུང་བསྟན་འཕེལ་
 འགྲིབ་ཀྱི་དཔང་གིས་བར་སྐབས་ཅ་གེ་དང་། ཅོད་རྫོག་རིན་སྤང་སྤྱད་ཅམ་
 མ་གཏོགས་དེ་འཕྲོས་ལེགས་སྦྱར་ཀྱི་སྒྱུ་དཔེར་མ་བཞུགས་པས། འདི་ནམས་
 བོད་འགྱུར་ནས་ལེགས་སྦྱར་དུ་བསྐྱར་གསོ་བྱ་རྒྱུ་ཤིན་དུ་གཤམ་ཆེར་རྒྱང་བས།
 སྟོབ་དཔོན་ཆེན་པོ་སེམས་དཔའ་དོ་རྩེ་མཚོག་གིས་ཡོ་ཤས་སྟོན་ཞིབ་མོ་ནམ་
 འཕགས་ལེགས་སྦྱར་དང་ཉིན་སྟངས་དུ་བསྐྱར་དེ་དཔར་བསྐྱན་རིན་འདུག་པ་དང་།
 དེ་མཚུངས་རིགས་པ་དུག་ཅུ་པ་དང་། སྟོང་ཉིད་བརྒན་ཅུ་པ། རིན་སྤང་
 ཆད་འཕྲོས་བཅས་ལེགས་སྦྱར་དུ་བསྐྱར་གསོ་བྱ་རྒྱུ་འདྲ་ག་སྟོབ་གཉེར་ཁང་
 གེ་ལེགས་སྦྱར་གཞུང་ལུགས་བསྐྱར་གསོ་དེ་ལས་རིམ་དུ་བཞག་པ་ལྟར།
 སྟོབ་དཔོན་ཆེན་པོ་སེམས་དཔའ་དོ་རྩེ་སྟོང་ཉིད་བརྒན་ཅུ་པ་བོད་སྐད་བསྐྱར་
 ཞིབ་བྱས་དག་དང་འཕེལ་ལེགས་སྦྱར་ཐོག་བསྐྱར་བསྐྱར། ཉན་སྟངས་དུ་

གསར་བཟུང་བཅས་མཛད་ཐོག་མཆན་འབྲེལ་ཐོག་ས་ཞིབ་བྱས་བཞོན་པ་འདི་
བཞིན་དུ་ལས་འདི་གའི་སློབ་ཁང་ནས་འཕགས་བོད་བོད་ཐོང་དུ་དབར་བཞུན་
ཞུས་པ་འདིས། དོན་གཤིང་ཅན་ནམས་ལྷ་ལྷུབ་ཀྱི་དགོངས་དོན་ཉིགས་པར་
ཕན་ཐོག་ཆེན་པོ་ཡོང་རེ་ཡོད།

སྐད་གཉིས་ཤན་ལྷུང་གི་དབར་བཞུན་བྱ་བུ་དི་མཐུན་ཀྱིན་ནི་བཞིན་.....
འཛེམས་མིན་སྐབས་དབར་བཞུན་དུས་འབྱེད་ཆེས་ལུང་ས་མཛད། འདོད་ལྷོ་
ཁངས་པའི་དབར་གསལ་ཕེགས་བོ་ཞིག་བྱང་མི་འདུག་པར་ལྷོ་པས་དང་།
དབར་ཐོང་རྗེས་མར་ཕེགས་བཅས་གཏོང་རེ་ཡོད་པ་བཅས། ཟས་གཏོང་པ་
དགེ་སློང་ལྷོ་བཟང་བཟུན་འཛིན་གྱིས་ས་ག་རྒྱ་པའི་ཆེས་ ༡༥ ཕྱི་ལོ་ ༡༩༥༡
རྒྱ་ ༦ ཆེས་ ༢ ལ་གྱིས།

दो शब्द

भौतिक विकास एवं उससे प्राप्त सुख सुविधाओं को बहुत कुछ प्राप्त कर लेने के बाद भी मानव अपने आध्यात्मिक मूल्यों को त्याग नहीं पा रहा है; अपितु इन विषयों के प्रति उनकी जिज्ञासा कुछ बढ़ती ही जा रही है। किसी पोप, पुरोहित, साधु सन्यासी के आदेश-उपदेश के बिना अपेक्षा किये आज के मानव अपने ज्ञान एवं चिन्तन शक्ति के द्वारा अपने आपको परखने की क्षमता रखता है। वे अपने आप को अब आध्यात्मिक विद्या के सन्निकट पा रहे हैं।

सामान्यतः आध्यात्मिक विद्या को सभी धार्मिक परम्पराओं में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। बौद्ध शास्त्रों में भी इसे विशिष्ट स्थान दिया गया है। भगवान् बुद्ध के उपदेशों में आध्यात्मिक विद्या के उत्कृष्टतम स्वरूप पाया जाता है। इनमें मानव जीवन के सर्वोत्तम साधन एवं उत्कृष्ट आदर्शों की विवेचना मिलती है। बौद्ध साहित्य आज भी भारतीय संस्कृति एवं जीवन के श्रेष्ठतम आदर्शों को हमारे समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।

दुर्भाग्यवश सम्प्रति बौद्ध वाङ्मय अपने मूल भाषा में पूर्णरूप से उपलब्ध नहीं है। सौभाग्य से भोटदेशीय भाषा में इसका एक विशाल भण्डार सुरक्षित है। इसे पुनः भारतीय जनजीवन के संपर्क में लाने के लिये भारत सरकार के सहयोग से केन्द्रीय उच्च शिक्षा संस्थान द्वारा उक्त साहित्य को पुनः अपनी मूलभाषा में उद्धृत करने का उपक्रम प्रारम्भ किया गया। इसी उपक्रम के अन्तर्गत आचार्य नागार्जुन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'शून्यता-सप्तति' अब भोट देशीय भाषा से पुनः संस्कृत में उद्धृत करके विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस ग्रन्थ के पुनरुद्धार का कार्य चार वर्ष पूर्व संस्थान की ओर से मुझे सौंपा गया। विषय की दृष्टि से अति गम्भीर होने से गहन चिन्तन के बिना यह ग्रन्थ सुगम नहीं था। इसकी स्ववृत्ति भी बहुत संक्षेप में होने से मूल ग्रन्थ का अर्थ बहुत स्पष्ट रूप से नहीं खुल पाती। दूसरी ओर मूल ग्रन्थ छन्द बद्ध है। इसे पुनः संस्कृत में छन्द बद्ध कर

अपने मूल रूप में उत्थापित करना एक कठिन कार्य था। लम्बे समय के प्रयास के साथ अपने गुरुजनों के अपूर्व सहयोग से ही यह कार्य सम्पन्न हो पाया है। इसमें मैं कितना सफल हो पाया हूँ, यह तो इस विषय के अधिकारी विद्वान् ही बतायेंगे।

इस कार्य के सम्बन्ध में मैं प्रोफेसर रामशंकर त्रिपाठी का अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने मेरी भाषागत त्रुटियों को दूर करने में निरन्तर सहयोग प्रदान किया। साथ ही प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय जी का भी मैं आभारी हूँ। उन्होंने ही मुझे इस तरह के कार्यों के लिये निरन्तर प्रोत्साहित किया। संस्थान के प्राचार्य प्रो० एम० रिन्पोछे को तो मैं बड़ा धन्यवाद दूँ, वे खुद इस कार्य के सहभागी हैं। उन्होंने ही संस्थान की ओर से इस कार्य को करने के लिये हमें प्रेरित किया और अन्त में यह काम मुझे सौंपा। कार्य सम्पन्न होते ही उन्होंने इसे छापने की व्यवस्था करके मुझे प्रोत्साहित किया। प्रोत्साहन के लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। अन्त में श्री सन्तन्-छोस्-फेल् को हृदय से आशीर्वाद देता हूँ, जिन्होंने छपाई का कार्य बहुत सुचारु रूप से सम्पन्न किया।

आ. सेम्पा दोर्जे

भूमिका

मनुष्य के जीवन का सबसे महत्वपूर्ण अध्याय 'कर्म' एवं चिन्तन का है। सामान्यतः यह देखा जाता है कि मात्र जीवन बिताने या जीवित रहने के लिए किए जाने वाले कर्मों का सम्बन्ध, जीवमात्र से है, पर सोद्देश्य कर्मों का अनुष्ठान केवल मनुष्य ही करते हैं। सोद्देश्य किये गये कर्मों की विवेचना आध्यात्मिक शास्त्रों में पाप एवं पुण्य की परिभाषा की सीमाओं के अन्तर्गत ही की गयी है। उसी विवेचना के साथ ही आध्यात्मिक धर्मों का आरम्भ होता है। सोद्देश्य कर्म भी दो प्रकार के होते हैं—इहलौकिक एवं पारलौकिक। परलोक से सम्बन्ध रखने वाले कर्मों का प्रमुख उद्देश्य 'अभ्युदय' एवं निःश्रेयस ही हुआ करता है। इन कर्मों का मार्गदर्शन तत्त्वचिन्तन के द्वारा होता है और इसका अनुष्ठान धर्म के द्वारा। दूसरे ज्ञानपूर्वक किये गये कर्म ही एक प्रकार से निःश्रेयस के साधन माने जाते हैं, यह बौद्धों का सर्वमान्य एवं मूल सिद्धान्त है। इसी के परिप्रेक्ष्य में ही बुद्ध ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था। इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय चार आर्य सत्य हैं। संक्षेप में यही प्रतीत्य-समुत्पाद की व्याख्या थी। यह एक ओर यानि व्यावहारिक दृष्टि से विशेष प्रकार के कर्म-सिद्धान्त का विरूपण करता है, तो दूसरी ओर यह एक गम्भीर ज्ञान एवं अगाध तत्त्व-चिन्तन की ओर इङ्गित करता है। यही बौद्ध दर्शन की दृढ़ भित्ति है और यही विभिन्न विचारों एवं विवेचनाओं का केन्द्र बिन्दु भी।

बौद्ध धर्म

विश्व का इतिहास यह बतलाता है कि मानव जीवन में धर्म का प्रवेश तत्त्व-चिन्तन से पहले हुआ है। मानव मस्तिष्क में धर्म का जन्म दुःख, पीड़ा, अज्ञान, अविश्वास एवं भय से सम्बन्धित भावनाओं के कारण हुआ है। क्योंकि वेदों के अनुसार भय से मुक्ति या अभ्युदय का कारण यागादि अनुष्ठान है। यह चिन्तन की दृष्टि से प्रमुखतया बाह्यमुखी ही प्रतीत होता है। क्योंकि इसके अनुसार अभ्युदय का प्रमुख कारण यज्ञ आदि के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करना और उनका प्रसन्न होना है। दूसरी ओर आध्यात्मिक चिन्तन या तत्त्वचिन्तन का प्रारम्भ उपनिषद् के युगों से ही देखा जाता है। यह बात दूसरी है कि आदिकाल के सभी ऋषि महर्षिओं को आत्मतत्त्व का ज्ञाता माना जाता है। बौद्ध धर्म का जन्म इससे कुछ विपरीत परिस्थितियों में हुआ प्रतीत होता है।

राजकुमार सिद्धार्थ-गौतम का जन्म राजकुल में राजवैभवों के बीच हुआ था। परम्परागत सभी सूत्र ग्रन्थों में तो सर्वत्र यह भी लिखा गया है कि सिद्धार्थ को जरा-

मरण-शोक परिदेव आदि का ज्ञान उनतीस वर्ष की अवस्था में ही हुआ है, जिसके कारण उन्होंने राजवैभवों को त्यागकर महाभिनिष्क्रमण किया। पर उस समय की परिस्थितियाँ उपर्युक्त मन्तव्य से कुछ भिन्न किसी दूसरे अर्थ को ही रेखाङ्कित करती हैं। ललितविस्तर, बुद्धचरित आदि ग्रन्थों में यह भी उल्लेख मिलता है कि सिद्धार्थ सभी लौकिक विद्याओं के पारगट सुविज्ञ थे। ऐसी स्थिति में उनतीस वर्ष की अवस्था तक उन्हें सांसारिक गतिविधियों एवं जरा-मरण आदि दुःखों का परिचय ही नहीं था या उनका अवबोध उन्हें नहीं था, यह कहना कहाँ तक सत्य हो सकता है। कुछ विशेषज्ञ इस असङ्गति को देखकर सिद्धार्थ के गृहत्याग का कारण शाक्य गण में शाक्य सेनापति के साथ उनका संघर्ष एवं मतभेद को बताते हैं।^१ इस कथन में भी वही असंगतियाँ उपस्थित होती हैं, जो अन्यत्र होती हैं।

सामान्यतः किसी वस्तु या तत्त्व का अवबोध दो स्तरों पर होता है, जैसे किसी के सुख दुःख, एवं उनके कारण-सामग्रियों को हम साधारण बुद्धि के द्वारा जानते हैं, मंत्री, कर्ण आदि भावनाओं, प्रतीत्यसमुत्पाद एवं शून्य जैसे तत्त्वों को हम नाम, सज्ञा, एवं शब्द सकेतों के आधार पर जानते हैं और हमें उनका अवबोध होता है। पर इस प्रकार के अवबोध या ज्ञान से हमारे जीवन या अनुभवों पर खास प्रभाव नहीं पड़ता है। दूसरा ज्ञान वह है, जो किसी वस्तु या तत्त्व को जीवन या संवेदनाओं से जानना। सांसारिक दुःखों एवं विविध प्रकार की समस्याओं के सम्बन्ध में इस प्रकार का ज्ञान सिद्धार्थ को उनतीस वर्ष की अवस्था में ही मिला जान पड़ता है। जैसे मायानिर्मित कन्या का दर्शन सभी दर्शकों को सामान्य रूप से होता है; पर माया-कन्या की सत्यता कहाँ होती है; इसका ज्ञान सबको नहीं होता है। माया-कन्या की सत्यता उसकी निःस्वभावता में ही होती है। अतः माया-कन्या की धर्मता उसकी कृत्रिमता या मिथ्यता के रूप में देखना एवं उसे अनुभव करना एक तथ्य अनुभव करना है। यह सबके लिए सुलभ नहीं है, इस तरह का ज्ञान सबको नहीं होता है। इसी प्रकार सांसारिक वस्तुओं एवं सुख दुःखों का साक्षात्कार सर्व-साधारण होते हुए भी उनकी सत्यता या दुःखता के रूप में साक्षात्कार करना या वैसा अनुभव करना सबके लिए सुलभ नहीं है। सिद्धार्थ को इस प्रकार का साक्षात्कार उनतीस वर्ष की अवस्था के उन अन्तिम क्षणों में ही हुआ था, जिसने एक ओर उनके सम्पूर्ण चिन्तन जगत् को आन्दोलित कर दिया था तथा दूसरी ओर इससे उनके महाभिनिष्क्रमण का मार्ग प्रशस्त होने लगा था। वास्तव में यही उनका 'दुःख-सत्य' का साक्षात्कार था। यहीं से उनके आध्यात्मिक दर्शन और धर्म का आरम्भ होता है। तब से लेकर छः वर्ष बाद उन्होंने सम्बोधि का साक्षात्कार किया है। उनके बाद पैंतालीस वर्षों तक वे विनेय लोगों

१. द्रष्टव्य—डॉ० अम्बेडकर रचित, बुद्ध भगवान् और उनका धर्म, पृ० २०-२४; अग्रे द्वि० संस्करण १९७४।

दार्शनिक प्रस्थान

दूसरे शब्दों में बुद्ध के तत्त्वदर्शन एवं उनके तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं ने उनके समक्ष अनेकानेक प्रश्न उपस्थित कर दिए, तो बुद्ध ने भी प्रत्येक प्रश्नों का समाधान प्रश्नकर्ता की योग्यता एवं मान्यताओं के अनुरूप ही प्रस्तुत किया था। यही कारण है कि आज उपलब्ध बुद्ध वचन प्रायः सबके सब प्रश्न उत्तर के रूप में ही पाये जाते हैं, साथ ही सूत्र वचनों के प्रतिपाद्य विषय में भी एकरूपता एवं भर्तृक्य नहीं पाया जाता है। इन विविध विषयों के आधार पर कालान्तर में बौद्ध दार्शनिक निकायों का विकास होता है और सभी दार्शनिकों की मान्यताएँ बुद्ध वचन में ही संहित पायी जाती हैं।

बौद्ध दार्शनिक प्रस्थानों के इतिहास में वस्तुवादी दर्शनों का उल्लेख पहले आता है। स्थविरवाद आदि अठारह निकायों में से प्रायः सभी लोगों का (तत्त्व) विचार वस्तुवादी ही था; क्योंकि उन मतों के अनुसार वस्तु की सत्ता के बिना कार्य-कारण एवं मार्ग फल की व्यवस्था सम्भव नहीं हो पाती है। इनमें से सौत्रास्तिकों को छोड़कर सभी निकायों के मत में वस्तु या किसी पदार्थ के सत् होने के लिए किसी न किसी रूप में उसकी द्रव्य सत्ता का होना आवश्यक प्रतीत होता है। अन्यथा सम्बन्धित वस्तु का अस्तित्व स्वीकार करना उनके लिए सम्भव नहीं होता है। आचार्य वसुमित्र ने अपने ग्रन्थ “समयभेदोपरचन-

चक्र” में विभिन्न निकायों के मतों का संक्षेप में उल्लेख किया है, आचार्य भव्य के मध्यमक-हृदय की स्ववृत्ति “तर्कज्वाला” तथा ‘निकायभेद’ नामक ग्रन्थ में भी प्राचीन निकायों के मतों का संक्षेप में उल्लेख मिलता है¹। इन ग्रन्थों में उपलब्ध विवरणों से यह पता चलता है कि सभी प्राचीन निकाय एक प्रकार से वस्तुवादी ही थे। इसका संकेत पालित्रिपिटक के कथावधु में भी मिलता है। उन मतों के अनुशीलन से यह भी आभास मिलता है कि वैभाषिक आचार्यों का मत उन निकायों के प्रायः सभी दार्शनिक प्रस्थानों का प्रतिनिधित्व करता है। परम्परागत शास्त्रों के अनुसार वस्तु की ‘द्रव्य सत्ता’ मानकर उसी के आधार पर मार्ग-फल की व्यवस्था करने वाले प्रस्थानों को वैभाषिक कहते हैं। साथ ही सभी अट्टारह निकाय वैभाषिक माने जाते हैं, इसका अभिप्राय भी यही जान पड़ता है कि सभी निकाय वस्तुवादी थे। यद्यपि वैभाषिक शब्द की व्युत्पत्ति या उसकी परिभाषा अन्य निकायों पर लागू नहीं होती, तथापि इन निकायों की दार्शनिक पृष्ठभूमि वैभाषिकों से मूलतः भिन्न नहीं है और वैभाषिक प्रस्थान अन्य प्रस्थानों के तार्त्विक आधारों का भी सैद्धान्तिक रूप से उपस्थापन करता है। जैसे—यह प्रस्थान परमाणु, क्षण या काल, चित्त, चैतसिक, मार्ग-फल, द्वयसत्य, प्रतीयसमुत्पाद, विप्रयुक्त संस्कार, असंस्कृत धर्म आदि सभी विषयों की व्यवस्था दार्शनिक विचारों के आधार पर करते हैं। शेरवादी आचार्यों ने भी उक्त विषयों की प्रचुर व्याख्या प्रस्तुत की है, पर उनके व्याख्यानों का वंचारिक आधार दार्शनिक न होकर मुख्यतः ऐतिहासिक ही जान पड़ता है।

वस्तुवादियों में सौत्रान्तिकों की स्थिति कुछ विलक्षण है। इनकी मार्ग-फल की व्यवस्था वैभाषिकों से भिन्न न होते हुई भी वस्तु-व्यवस्था एवं तत्त्वविस्तन के क्षेत्र में सौत्रान्तिक वैभाषिकों से मूलतः भिन्न हैं। यह असंस्कृत धर्मों की द्रव्य सत्ता स्वीकार नहीं करते। वस्तु के सम्बन्ध में उनका विचार अत्यन्त क्षणिकवादी है। इनके अनुसार ‘काल’ की सत्ता मात्र कल्पित एवं प्रज्ञप्त है। आकाश आदि की सत्ता प्रतिषेधमात्र है। वे विप्रयुक्तसंस्कार एवं पुद्गल जैसे प्रज्ञप्त धर्मों में भी अर्थक्रियाकारित्व धर्म का निषेध नहीं करते हैं। शब्द-संकेतों एवं अपोहवाद की विस्तृत विवेचना इसी दर्शन में मिलती है। नि य परमाणुवाद एवं परिणामवाद का सफल खण्डन भी इसी दर्शन में हुआ है। सौत्रान्तिक अस्तित्व के साथ सापेक्षता की व्याप्ति स्वीकार करता है। इस प्रकार यह दर्शन महायान दर्शन के लिए विस्तृत बुनियादी आधार प्रस्तुत करता है।

महायान दर्शन में विज्ञानवाद एवं निःस्वभाववाद ये दो दर्शन आते हैं। विज्ञानवाद का अस्तित्व नागार्जुन से कुछ समय पूर्व होने की सूचना मिलती है। विज्ञानवाद के

-
१. (क)—द्रष्टव्य “समयभेदोपरचनचक्र” वसुमित्र—तन् ग्युर,
 (ख)—‘निकाय भेद’ ,, भव्य० ,,
 (ग)—‘तर्कज्वाला’ ,, ,,

प्रवर्तक माने जाने वाले आचार्य असङ्ग भी अपने ग्रन्थ भूमिशस्त्रों में कुछ मतों के सम्बन्ध में पूर्व विज्ञानवाद का उल्लेख करते हैं। पर विज्ञानवाद को एक दार्शनिक प्रस्थान के रूप में प्रस्थापित करने का श्रेय आचार्य असङ्ग को ही दिया जाता है।

विज्ञानवाद बाह्य पदार्थ के अस्तित्व में युक्ति की बाधा उपस्थित होते देखकर उसे सत्त्वेन स्वीकार नहीं करते, साथ ही सृष्टि की प्रत्यक्षगत सत्ता को अस्वीकार करना भी उनके लिए सम्भव नहीं हो सका, तो इस समस्या का समाधान वे विज्ञान की परतन्त्रा सत्ता के आधार पर प्रस्तुत करते हैं और अठारह पदार्थों के द्वारा सम्पूर्ण महायान प्रस्थान की विवेचना करते हैं। जैसे कहा गया है—

पञ्च धर्माः स्वभावश्च विज्ञानान्यष्ट एव च ।

द्वे नैरात्म्ये भवेत्कृत्स्नो महायानपरिग्रहः ॥ ६।५।^१

अर्थात् निमित्त, नाम, विकल्प, तथता एवं सम्यग् ज्ञान ये पाँच धर्म, परिकल्पित, परतन्त्रा एवं परिनिष्पन्न ये त्रिविध लक्षण, आलयविज्ञान, क्लृष्टमनोविज्ञान और छः प्रवृत्तिविज्ञान ये आठ विज्ञान और दो नैरात्म्य इन अठारह धर्मों के द्वारा समस्त महायान दर्शन के प्रतिपाद्य विषयों की विवेचनात्मक व्याख्या की जाती है। इस प्रकार विज्ञानवाद उक्त अष्टादश पदार्थों के आधार पर समस्त बुद्ध वचनों की दार्शनिक व्याख्या उपस्थापित करता है।

यह तो सर्वविदित है कि बौद्ध दर्शन का प्रतिपाद्य विषय मुख्य रूप से आध्यात्मिक ही रहा है यह आध्यात्मिक जगत् के प्रायः सभी विषयों का सस्पर्श करता है। विशेष रूप से महायान धर्म एक ओर मनुष्य जीवन के सम्पूर्ण क्रिया-कलापों का एक सुसंस्कृत एवं परिष्कृत रूप प्रस्तुत करता है, तो दूसरी ओर इनका दर्शन उन सभी क्रिया-कलापों के तात्त्विक आधार की स्थापना भी करता है। इस प्रकार महायान दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण बुद्ध वचन एवं उसकी व्याख्या उपर्युक्त जीवन के उन दो पहलुओं की विवेचना में ही समाप्त होते हैं।

विज्ञानवाद के बाद माध्यमिक दर्शन का प्रश्न आता है। यह तो कहा जा चुका है कि बुद्ध वचनों का बहुत बड़ा भाग दार्शनिक विचारों से परिपूर्ण है। विशेष रूप से प्रज्ञापारमिता सूत्रों का उपदेश तत्त्व सम्बन्धों प्रश्नोत्तर, वाद-विवाद एवं परिसवाद के रूप में ही हुआ है, साथ ही बुद्ध के जीवन के अन्तिम कालों में उनके उपदेशों की विविधताओं एवं विशेष रूप से प्रज्ञापारमिता सूत्रों में उपदिष्ट सर्वधर्मनिःस्वभावता के सम्बन्ध में पूछे जाने वाले प्रश्नों के उत्तर में उन्होंने दो प्रकार के सूत्रों का उपदेश दिया था— 'सन्धिनिर्मोचन सूत्र' एवं 'अक्षयमतिनिर्देश सूत्र'। कालान्तर में इन दो सूत्रों के आधार

पर दो महायान प्रस्थानों की स्थापना हुई है। सन्धिनिर्मोचन सूत्र के अनुसार आचार्य असङ्ग ने समस्त बुद्ध वचनों की व्याख्या विज्ञप्तिमात्रता की स्थापना के रूप में की, तो अक्षय-मतिनिर्देश सूत्र के अनुसार आचार्य नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद एवं निस्वभावता की विवेचना करते हुए बुद्धवचनों की नीतार्थता के रूप में माध्यमिक दर्शन की उपस्थापना की है। इस प्रकार महायान प्रस्थान को दो महारथियों ने दो दिशाओं की ओर प्रवर्तित किया है। यह तो कहा जा चुका है कि विज्ञानवादी विचारों की परम्परा एवं उनके कुछ आचार्यों के नागार्जुन से कुछ पूर्ववर्ती होने की सूचना मिलती है। पर महायान दर्शन की दोनों शाखाओं में से माध्यमिकदर्शन सुव्यवस्थित स्थापना के साथ प्रथमतया अस्तित्व में आता है और इसके संस्थापक आचार्य नागार्जुन थे।

नागार्जुन

सामान्यतः नागार्जुन को माध्यमिक दर्शन का संस्थापक ही माना जाता है, पर नागार्जुन न केवल माध्यमिक मत के संस्थापक थे, अपितु बुद्ध के अनुयायियों में से सम्पूर्ण बुद्धवचनों की महायानी व्याख्या उपस्थापित करने वाले वे प्रथम व्यक्ति थे। यद्यपि कालान्तर में नागार्जुन की व्याख्या से भिन्न बुद्ध-वचनों की व्याख्या करने वाले अनेक मतमतान्तर एवं आचार्य हुए हैं, परन्तु नागार्जुन का खण्डन करनेवाले या उनको अस्वीकार करनेवाले सम्भवतः कोई आचार्य नहीं हुए हैं।

परम्परा के विभिन्न शास्त्रों में नागार्जुन के नाम के साथ अनेकानेक विशेषण मिलते हैं— आचार्य नागार्जुन, आर्यनागार्जुन, सिद्धनागार्जुन, श्रीमान् नागार्जुन, रसायनज्ञ नागार्जुन इत्यादि। प्रचलित परम्पराओं में इन नामों के साथ अनेकानेक किंवदन्तियाँ भी प्रचलित हैं। साथ ही आज के शोधकर्ताओं एवं इतिहासकारों की लेखनी से प्रसूत किंवदन्तियों की भी कमी नहीं है। वास्तव में आचार्य नागार्जुन की आयु औसत से कुछ अधिक ही रही है। उनका कार्य क्षेत्र भी देश एवं विद्या दोनों दृष्टियों से बहुत व्यापक रहा है। दूसरे, नागार्जुन की जीवनी में भी एकरूपता नहीं है। भोटदेशीय परम्परा में नागार्जुन की आयु छः सौ वर्ष (६००) होने का भी उल्लेख मिलता है। कुछ चीनी परम्परा के लेखक नागार्जुन के प्रारम्भिक जीवन का एक मायाकार के रूप में उल्लेख करते हैं^१। इस प्रकार नागार्जुन के सम्बन्ध में सुनिश्चित विवरण न मिलने से उनके जीवन, समय एवं कृतियों के विषय में आज भी इतिहासकारों में मतभेद नहीं है। अनेक लोग दार्शनिक नागार्जुन, तान्त्रिक नागार्जुन, रसायनज्ञ नागार्जुन आदि का भिन्न व्यक्ति के रूप में उल्लेख करते हैं। सामान्यतः नागार्जुन नाम के अनेक व्यक्तियों का होना अस्वाभाविक नहीं है। पर दार्शनिक नागार्जुन जो माध्यमिक दर्शन के संस्थापक थे, तान्त्रिक नागार्जुन जो गुह्यसमाज के

‘निष्पन्न क्रम’ की व्याख्या ‘पञ्चक्रम’ आदि के रचविता थे और रसायन के विशेषज्ञ नागार्जुन भिन्न व्यक्ति होने का पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। इसके विपरीत तीनों नागार्जुन के एक ही व्यक्ति होने का प्रमाण अधिक सबल प्रतीत होता है। आर्यदेव नागार्जुन के जीवन के उत्तरकालीन शिष्य थे, इसमें कोई विवाद नहीं है। आर्यदेव के चतुःशतकादि दर्शन तथा चर्यासंग्रह आदि तन्त्रग्रन्थों में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख मिलता है कि उन्हें यह सभी ज्ञान नागार्जुन से प्राप्त हुआ था।

आचार्य चन्द्रकीर्ति पाँचवीं एवं छठीं सदी के बीच के आचार्य हैं, उन्होंने भी अपने ग्रन्थ ‘मध्यमकावतार’ में स्पष्ट लिखा है कि—

जानाति धर्मं स महागम्भीरं यथागमेनापि नयेन चार्यैः ।
तथार्यनागार्जुनशास्त्रनीत्या यथा व्यवस्थां मतमुच्यते हि ॥६॥३॥*

गुह्यसमाज तन्त्र की टीका — ‘प्रसन्नदीपिका’ में भी कहा गया है।

महायोग तन्त्र-आगमों के आधार पर उत्पत्तिक्रम एवं निष्पन्नक्रम के अधिगम्य, जो (भूगर्भ) निधि के समान (दुर्बोध) है, (वह) आचार्य नागार्जुनपाद द्वारा प्रतिपादित आचार्य परम्परा से क्रमशः प्राप्त, इत्यादि ।¹

इस प्रकार नागार्जुन का व्यक्तित्व एवं उनके दर्शन तथा साधना से सम्बन्ध रखने वाले तान्त्रिक विषयों से सुपरिचित चन्द्रकीर्ति एवं भव्य जैसे आचार्यों को दार्शनिक नागार्जुन एवं तान्त्रिक नागार्जुन के भिन्न होने की कोई सूचना नहीं है, अपितु वे—

दक्षिणापथवेदल्यां भिक्षुः श्रीमान् महायशाः ।
नागाह्वयः स नाम्ना तु सदसत्पक्षदारकः ॥१०॥१६५ ।
प्रकाश्य लोके मद्यानं महायानमनुत्तरम् ।
आसाद्य भूमिं मुदितां यास्यतेऽसौ सुखावतीम् ॥१०॥१६६ ।

इन श्लोकों को उद्धृत करते हुए इनमें निर्दिष्ट नागार्जुन को ‘महायान दर्शन’ एवं ‘अनुत्तर’ तन्त्र दोनों के विशेषज्ञ आचार्य होने का उल्लेख करते हैं²। इस सम्बन्ध में और भी बहुत सी बातें कही जा सकती हैं, पर विस्तार के भय से यहाँ छोड़ा जा रहा है। नागार्जुन के बारे में कुछ समीक्षात्मक चर्चा वैदल्यसूत्र की (भोटी से संस्कृत में पुनरुद्धार की) भूमिका में की जा चुकी है।

* मध्यमकावतार—Jornal of oriental Research Madras 1929—Vol-I ।

१. द्र०—गुह्यसमाज तन्त्र की टीका पृ० २०० स्टे० सं० तन्त्र ग्युर ‘ह’ पुटे ।

२. द्र०—गुह्य० ” ” ” ” ”

नागार्जुन की कृतियां

भोटदेशीय तन् ग्युर संग्रह में नागार्जुन के नाम से १३५ ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त भी नागार्जुन के नाम से कुछ प्रणिधान स्तोत्र आदि रचनाएँ उपलब्ध होती हैं, इनमें से शून्यतासप्तति उनका संक्षिप्त दार्शनिक ग्रंथ है। यों तत्त्वव्याख्या की दृष्टि से उनकी दो तरह की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं—आगमपरक एवं युक्तिपरक। आगमतः तत्त्वव्याख्या के लिए उन्होंने सूत्रसमुच्चय की रचना की। इस ग्रन्थ में उन्होंने ६६ प्रकार के प्रश्नों के सन्दर्भ में संक्षेप से युक्तियों के साथ ६९ सूत्र ग्रन्थों से प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। वस्तु-परक युक्तियों के द्वारा 'तत्त्व' व्याख्या के हेतु मूल माध्यमिक कारिका आदि प्रमुख छः ग्रन्थों की रचना की है। सामान्यतः यहाँ भी नागार्जुन के सम्मुख दो तरह की समस्याएँ उपस्थित थीं। साधन प्रमाणों से सम्बन्धित विप्रतिपत्तियाँ एवं साध्य सम्बन्धी विप्रतिपत्तियाँ। प्रथम विप्रतिपत्तियों के निराकरण के लिए उन्होंने वैदल्यसूत्र एवं उसकी स्ववृत्ति के रूप में वैदल्यप्रकरण इन दो ग्रन्थों की रचना की। दूसरी विप्रतिपत्तियों के सन्दर्भ में मूल माध्यमिक कारिका, विग्रहव्यावर्तनी और शून्यतासप्तति इन तीन ग्रन्थों की रचना की है। विमुक्तिपद के लिए और विमुक्ति मार्ग एवं उसकी साधना के लिए अन्तद्वयवर्जित मध्यमाप्रतिपदा की आवश्यकता पर प्रकाश डालने के लिए "युक्तिषष्टिका" और "रत्नावलि" इन दो ग्रन्थों की रचना की है।

प्रज्ञा नामक मूल मध्यमककारिका में वस्तुमात्र का निषेध करते हुए कहा गया है कि —

न हि स्वभावो भावानां प्रत्ययादिषु विद्यते ।

अविद्यमाने स्वभावे परभावो न विद्यते ॥१॥^१

इस कथन पर वस्तुवादियों ने यह आरोप लगाया कि—

सर्वेषां भावानां सर्वत्र न विद्यते स्वभावश्चेत् ।

त्वद्वचनमस्वभावं न निवर्तयितुं स्वभावमलम् ॥^२

अर्थात् सभी वस्तु या भाव सर्वथा स्वभाव से शून्य हो, तो तुम्हारे वचन भी स्वभावहीन होने से (वस्तु के) स्वभाव का निराकरण करने में असमर्थ हैं। इस प्रकार के प्रश्नों के समाधान हेतु 'विग्रहव्यावर्तनी' की रचना हुई है। अतः यह ग्रन्थ स्वतन्त्र शास्त्र न होकर "मूल मध्यमक कारिका" के उक्त प्रासङ्गिक प्रश्नों के विशेष उत्तर के रूप में रची गई एक प्रकार का परिशिष्ट या उसकी एक शाखा है।^३

१. मध्यमकशास्त्र १।५।

२. विग्रह १.

३. द्रष्टव्य—चोङ्खा-पा कृत मूल मध्यमक कारिका-टीका: न्यायसागर, पृ० ६।
सारनाथ० १९७३.

शून्यतासप्तति

यह तो कहा जा चुका है कि शून्यतासप्तति नागार्जुन की एक संक्षिप्त दार्शनिक कृति है। यह भी एक स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर मूलमाध्यमिक कारिका से सम्बन्धित विशेष प्रश्नों के समाधान के रूप में ही रची गई है।

मूल माध्यमिककारिका के मातर्वे परिच्छेद 'संस्कृत परीक्षा' में उन्हें ने उत्पाद-स्थिति-भङ्ग की सत्ता का निराकरण करते हुए ३३ कारिकाओं के द्वारा 'संस्कृत' धर्म मात्र का खण्डन किया, तो वस्तुवादियों ने निःस्वभाववाद पर यह प्रश्न उठाया कि—“यदि उत्पाद, स्थिति आदि लक्षण से युक्त धर्म सत् नहीं है, तो आगम से विरोध होगा। जैसे भगवान् ने सत्रों में कहा है कि—तीणिमानि भिक्खवे, सङ्ख-तस्स सङ्खतलक्खणानि। कतमानि तीणि? उप्पादो पञ्जायति, वयो पञ्जायति, ठितस्स अञ्जायत्तं पञ्जायति। इमानि खो भिक्खवे, तीणि सङ्खतस्स सङ्खतलक्खणानीति^१।” इत्यादि।

इनके समाधान के रूप में मूल कारिका में —

यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा।

तथोत्पादस्तथा स्थानं तथा भङ्ग उदाहृतम्^२ ॥ ५ ॥

यह एक ही श्लोक कहा गया है। उपर्युक्त प्रश्नों के विस्तृत समाधान के हेतु आचार्य ने आगमों के आशय एवं अभिप्राय की विशद व्याख्या करते हुए शून्यतासप्तति की रचना की है। इस प्रकार शून्यतासप्तति उक्त कारिका से सम्बन्धित समस्याओं के समाधान के रूप में रची गई एक विशिष्ट ग्रन्थ है। इसलिए इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण आदि भी दृष्टिगत नहीं होता है। इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य चन्द्रकीर्ति 'युक्तिषष्टिका' की अपनी व्याख्या में लिखते हैं कि - शून्यतासप्तति तो मूलकारिका के 'यथा माया यथा स्वप्न'.....इत्यादि के सम्बन्ध में उठाये गये प्रश्नों के समाधान के रूप में रची गयी है। इसलिए यह ग्रन्थ मूलकारिका से भिन्न कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, इसलिए मूल कारिका वा 'अनिरोधमनुपाद' आदि जो मङ्गलाचरण है वह इसका भी मङ्गलाचरण है।^३

शून्यतासप्तति शून्यवाद के सिद्धान्तों की एक संक्षिप्त विवेचना है, यह कहा जा चुका है। इसमें कुल ७३ कारिका है। इनमें से ७०, कारिकाओं में विभिन्न

१. सङ्खतलक्खणामुत्तं, अङ्गुत्तरनि० पृ० १३६-४०।

२. मा० शा० ७ ३४।

३. द्रष्टव्य-युक्तिषष्टिका टीका पृ०, २, स्वे० सं० तन्त्रपुर, उमा—“हा” पुटे।

युक्तियों के द्वारा प्रासङ्गिक प्रश्नों का उत्तर देते हुए प्रतीत्यसमुत्पाद एवं शून्यता का निरूपण किया गया है और अन्तिम तीन कारिकाओं के द्वारा ग्रन्थ का उपसंहार प्रस्तुत किया गया है ।

ग्रन्थ का विषय

शून्यतासप्तति का आरम्भ संस्कृत धर्म तथा उत्पाद, स्थिति, भङ्ग आदि उसके लक्षणों से सम्बन्धित आगम विरोधी प्रश्नों के समाधान से होता है । वास्तव में वस्तु के शाश्वत सत्तावाद एवं उच्छेदवाद की परीक्षा तो वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक दर्शनों में प्रतिपादित युक्तियों के द्वारा हो जाती है । पर संस्कृत धर्मों के उत्पाद, स्थिति, भङ्ग आदि लक्षणों की सत्ता अस्वीकार करना उन बौद्ध वस्तुवादियों के लिए सम्भव नहीं था, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की व्याख्या वस्तु की स्वलक्षणसत्ता के आधार पर ही करना चाहते हैं, क्योंकि उनके मतानुसार 'अर्थक्रिया सामर्थ्य धर्म' वस्तु का स्वलक्षण धर्म है, जिसके बिना वस्तु या पदार्थ का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया जा सकता । वस्तुवादी बौद्ध दार्शनिक अपने उस मूल सिद्धान्त को अपने शास्ता के आगम से सम्मत भी मानते हैं । इसलिए वस्तु की सत्ता नहीं माननेवाले निःस्वभाववाद के प्रति वे आगम विरुद्ध होने का दूषण उद्भावित करते हैं । इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं—

उत्पादस्थितिभङ्गास्ति नास्ति हीनसमोत्तमम् ।^१

इत्यादि ।

अर्थात् उत्पाद, स्थिति, भङ्गादि की देशना बुद्ध ने लौकिक व्यवहार की दृष्टि से दी है, न कि उत्पाद, स्थिति आदि की पारमार्थिक सत्ता होने के कारण । बुद्ध ने न केवल उत्पाद-स्थिति आदि संस्कृत लक्षणों की ही देशना दी है, अपि तु आत्मा, पुद्गल, कर्ता, भोक्ता आदि की भी देशनाएँ दी हैं^२ । इन सब प्रकार की देशनाओं को स्वयं वस्तुवादी भी शब्दशः स्वीकार नहीं करते । प्रत्येक बुद्धवचन सोद्देश्य, सप्रयोजन एवं पात्र की योग्यता के अनुरूप ही दिया गया उपदेश होता है । यह सबके लिए सबका सब शब्दशः ग्राह्य नहीं होता है । पर प्रत्येक उपदेशों का अन्तिम लक्ष्य एक ही होता है । वह है प्रत्येक विनेय लोगों को अपने द्वारा "दृष्टधर्मता" का साक्षात्कार कराना या उसे अधिगत कराना । जब तक इस धर्मता का अविपरीत अवबोध नहीं होता, तब तक व्यक्ति या जीव सांसारिक बन्धनों से मुक्त नहीं हो पाता है । इसलिए बुद्ध ने अनेकानेक युक्तियों एवं उपायों के द्वारा विनेय लोगों को स्वयं 'दृष्टधर्मता' का अवबोध कराने का अभियान चलाया है । जैसे कहा गया है —

१. शून्यतासप्तति-१.

२. भारं च वो, भिक्खवे, देवेस्सामि० भारमुत्तं -सं० नि० २२ । पृ० २६१

शून्याश्च शान्त अनुत्पादनय अविजानदेव जगदुद्भ्रमति ।

तेषामुपाग्रनययुक्तिशतैरवतारयस्यापि कृपालुतया ॥^१

इस प्रकार आचार्य के अनुसार विभिन्न अर्थों को विभिन्न रूप से द्योतित करने वाले बुद्ध उपदेशों में न तो वदतोव्याघात दोष है, और न वह निरर्थक ही। अपितु यह बुद्ध का उपायकौशल्य है। इस बात को मद्देनजर रखते हुए आचार्य उपर्युक्त वस्तुवादियों के प्रश्नों का ससन्दर्भ निराकरण करते हुए अपने इस ग्रन्थ में (—शून्यतासप्तति में) भगवान् बुद्ध के अभीष्ट—“अनुत्पादधर्मा”—की समुचित व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

शून्यतासप्तति की विशेषता

शून्यतासप्तति आकार की दृष्टि से बहुत छोटा ग्रन्थ है। इस में कुल ७३ कारिका हैं। इस कारिकाओं के द्वारा आचार्य सम्पूर्ण बुद्ध वचनों में निहित सत्त्वों की व्याख्या करते हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि —“मात्र सत्तर कारिकाओं के द्वारा भी अतिविशिष्ट अर्थ की प्रसिद्धि होते देख कर आचार्य ने इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है।”²

इस ग्रन्थ में विशेष रूप से संस्कृत धर्मों के त्रिविध लक्षणों को लेकर सर्वधर्म निःस्वभावता का निरूपण किया गया है। इस में भी रूपादि के उत्पाद एवं स्थिति आदि में प्रतीयमान स्वतन्त्रसत्ता, जो बाल पृथक्जनों की दृष्टि एवं रागादि क्लेशों का निमित्त स्थान होती है, का विस्तृत निराकरण किया गया है; क्योंकि इसी में प्रत्यासक्त होकर जीव अथाह भवसागर में गोते लगाते रहते हैं, जिसका कोई अन्त नहीं है। इस लिये एक आध्यात्मिक दर्शन के लिये उत्पाद, स्थिति आदि वस्तु में निहित उस दृष्टिस्थान का निराकरण करना पहला काम हो जाता है। उत्पाद स्थिति आदि के प्रति सत्याभिनिवेश का निराकरण भी कालविशिष्ट या प्रादेशिक सत्ता की निःस्वभावता मात्र सिद्ध करने से नहीं हुआ करता है। अपितु इसका निषेध सार्वभौम एवं सर्वव्यापक सत्ता के निषेध से ही सम्भव है।^३ इसका सर्वोत्तम उपाय है; प्रतीय समुद्राद की यथार्थता का बोध। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए आचार्य ने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक हर प्रश्नों का समाधान प्रतीयसमुद्राद नय' के आधार पर उपस्थापित किया है।

१. राष्ट्रमालपरिपृच्छा सूत्र - २।४१० ।

२. द्र०—शून्यतासप्तति व्याख्या—पृ. २६० ।

[illegible]

[मध्यमालङ्कार-वृत्ति] ।

सामान्यतः माध्यामिक दर्शन की सबसे बड़ी समस्या शून्यता के साथ व्यवस्था की है। किसी भी अन्य दर्शन या तत्त्वचिन्तक के पास कोई भी ऐसा तत्त्व या सिद्धास्त नहीं है, जो “शून्यता एवं व्यवस्था” इन दोनों का एक साधारण आधारभूत तत्त्व हो और जिसके आधार पर इन दोनों का आकार एक साथ उपस्थापित किया जा सकें। या दोनों में साध्यसाधन-भाव बन सके। “प्रतीत्यसमुत्पाद का नय” वह आधार उपस्थापित करता है, जिसके आधार पर उक्त दोनों सिद्धान्तों की सुव्यवस्थित व्याख्या प्रस्तुत होती है। यह एक ओर रूपादि के स्वभाव का निषेध करते हुए शून्यता की व्याख्या करता है, तो दूसरी ओर यह अपनी “इदंप्रत्ययता” के आकार को अभिव्यक्त करता है; जिसके द्वारा कार्यकारणभाव की अक्षुण्ण व्यवस्था का विधान होता है। शून्यतासप्तति इस गम्भीर नय की ओर विशेष प्रकाश डालती है।

प्रतीत्यसमुत्पाद की सार्वभौमिकता

बौद्ध वाङ्मय के अनुशीलन से यह प्रतीत होता है कि बुद्ध की अतिविरतृत देश-नाओं एवं तत्सम्बन्धित शास्त्रों के कुछ आधारभूत मुद्दे ये हैं कि वस्तु की अनित्यता, सास्त्र-वधर्मों की दुःखता, सर्वधर्म निरात्म्य और निर्वाण की उपशान्तता। परम्परागत शास्त्रों के अनुसार इन चार तत्त्वों को भगवान् बुद्ध के उपदेशों में निहित चार दर्शनिक ‘मुद्रा’^१ कहा जाता है। समस्त बौद्ध चिन्तन धारा इन मुद्राओं से मुद्रित होती है। इस तथ्य को केन्द्र बिन्दु में रखकर इस ग्रन्थ में वस्तु मात्र—स्कन्धों की दृष्टि से मात्र प्रज्ञप्त, आयतन की दृष्टि से मात्र दुःखता, धातु की दृष्टि से मात्र प्रतीत्यसमुत्पन्न और सत्ता की दृष्टि से मात्र निस्स्वभावता के रूप में प्रतिपादित किया गया है।

संक्षेप में विविध प्रकार के उपदेशों, विभिन्न निकायों के अनेकानेक दार्शनिक प्रस्थानों, उनके विचारणीय विषय एवं प्रतिपाद्य तत्त्व मूलतः उपर्युक्त चार मुद्राओं के अन्तर्गत ही प्रतिफलित होते हैं। उन चार तत्त्वों या पदों की स्थापना स्वयं बुद्ध ने ‘प्रतीत्यसमुत्पाद नय’ के आधार पर की थी। इसलिये प्रतीत्यसमुत्पाद को तथागत की देशनाओं का “गुह्यकोश”^२ कहा गया है। शून्यतासप्तति में प्रतिपादित ‘नय’ तथागत के उस ‘गुह्यकोश’ को अपने आधार या स्रोत के रूप में रेखांकित करता है। जैसे कहा गया है—

१. चत्वारि धर्मपदानि तद्यथा—अनित्याः सर्वसंस्काराः। दुःखाः सर्वसंस्काराः। निरात्मानाः सर्वसंस्काराः। शान्तं निर्वाणं चेति।—धर्मसंग्रह, पृ. ३३२, महायान सूत्र-संग्रह—भाग ii, मिथि सं० १९६१।

२. (क) ཁྱིཾྱུ་གསུང་གི་གཤེས་པ་ནི་སེཾྱུ། -२३, चोङ्खापा-प्रकीर्ण (प)

पुटे—पृ० १७। (ख)—རྟེན་ཅོང་འབྲེལ་བར་རྩལ་འདྲི་བྱུང་པ་ཡི། གསུང་

གི་སེཾྱུ་གི་གཤེས་པ་རབ་སྟོ་སྟེ།—འགྲེམ་སྟོང་སྟེ། ४५। སྟེ།

सच्चाप्यस्ति ह्यसच्चापि सदसच्चापि विद्यते ।

सुगमा न हि बुद्धानामभिप्रायिकदेशना ॥-४४ ॥

(शून्यता-सप्तति)

प्रतीत्यसमुत्पाद एक प्रज्ञाभूमि

प्रतीत्यसमुत्पाद ही बुद्ध का दृष्ट तत्त्व था । इसी के साक्षात्कार से वे बुद्ध हुए । यह एक विशिष्ट प्रकार की प्रज्ञाभूमि है । इस 'नय' के आधार पर संसार की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के विभिन्न उपायों की विवेचना की जाती है । 'प्रज्ञा' धर्म प्रविचयात्मक ज्ञान है और यह तत्त्वविषयक चिन्तन है । तत्त्वचिन्तन का मूलमन्त्र वस्तु की निःस्वभावता है । इस निःस्वभावता का प्रमुख साधन प्रतीत्यसमुत्पाद है । निःस्वभावता को वस्तु की यथार्थता के रूप में स्वीकार करते हुए भी माध्यमिक नय कार्य-कारण के अविच्छिन्न सम्बन्ध एवं कर्मफल की अत्यन्त प्रतिबद्धता को अस्वीकार नहीं करता । वस्तु की निःस्वभावता एव आत्मा का अत्यन्त अभाव मान लेने पर वस्तुवादियों के अनुसार कार्य-कारण के अविच्छिन्न सम्बन्ध, कर्ता के साथ कर्मकी प्रतिबद्धता आदि व्यवस्था असम्भव सी प्रतीत होती है । कर्मवाद के अनुसार इस नय में कर्म के कृतविप्रणाश एवं अकृत-अश्रुपगम आदि कर्म फल के नियमों का विप्लव होने का भी प्रसङ्ग आता है । क्योंकि स्थिर वस्तुवादी किसी वस्तुगत शाश्वत सत्ता के बिना भिन्न देश एवं भिन्न काल में स्थित वस्तुओं के सम्बन्ध को देख नहीं सकते । किसी नित्य घटक तत्त्व के बिना भिन्न कालों में घटी घटनाओं में वे सम्बन्ध स्वीकार नहीं कर सकते हैं ।

अस्थिर वस्तुवादी वैभाषिक आदि प्रस्थानों में आत्मा के अत्यन्त अभाव को स्वीकार करते हुए भी आत्मा, पुद्गल आदि के उपचार स्थान पंचस्कन्ध आदि धर्मों की स्व-लक्षण सत्ता के बिना इस 'नय' में कार्य-कारण आदि की व्यवस्था सम्भव नहीं हो पाती है । इसलिये इन बौद्ध प्रस्थानों में भी निस्वभाववाद की समीक्षा की जाती है और लोक व्यवहार के उच्छेद होने का प्रसङ्ग दिया जाता है । जैसे — कहा गया है —

अशक्तं सर्वमिति चेद् बीजादरङ्कुरादिषु ।

दृष्टा शक्तिः, मता सा चेत् संवृत्यास्तु यथा तथा ॥ ४ ॥

(प्रमाणवार्तिक-प्रत्यक्ष)

इस प्रकार वस्तुवादियों के अनुसार धर्मप्रविचयात्मक प्रज्ञा की दृष्टि से निःस्वभाववाद एक उच्छेदवादी दर्शन है । पर निःस्वभाववाद पर उक्त दोष लागू नहीं होता । क्योंकि यहां कार्य-कारण एवं कर्म-फल का सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद नय द्वारा निरूपित है । वस्तुवादी 'नय' में 'स्वभाव' के बिना किसी पदार्थ का अस्तित्व तक स्वीकार नहीं किया जा सकता । पर वास्तव में कोई भी वस्तु या पदार्थ 'सस्वभाव' नहीं हुआ करता है । क्योंकि

‘स्वभाव के रहते किसी भी प्रकार का लोक व्यवहार नहीं चल सकता और कारण के साथ कार्य का सम्बन्ध सम्भव नहीं हो पाता है। जैसे कहा गया है —

प्रभवति च शून्यतेयं यस्य प्रभवन्ति तस्य सर्वाः ।

प्रभवति न तस्य किं न भवति शून्यता यस्येति ॥ १७ ॥

(विग्रहव्यावर्तनी)

प्रतीत्यसमुत्पाद मध्यमाप्रतिपदा

वस्तु स्वभावतः उत्पन्न नहीं है, वह प्रतीत्यसमुत्पन्न है। जिसका समुत्पाद ‘प्रतीत्य’ होता है; उसका उत्पाद स्वभावतः नहीं हुआ करता है। उसी प्रकार जिसका अस्तित्व प्रतीत्य या निःसापेक्ष होगा, उसका सत्त्व निरपेक्ष नहीं हो सकता है। अतः जो सापेक्ष होगा, वह स्वतः सत् नहीं हो सकता है। जो स्वतः सत् नहीं है, वही निःस्वभाव है। इसलिये वस्तुमात्र के प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से सर्वभावनिःस्वभाववाद नय में स्वभाव के लिये कोई स्थान नहीं है।

सामान्यतः ‘पद’ धातु का प्रयोग गति के अर्थ में होता है ^१ सम् और उत् पूर्वक ‘पद’ धातु का अर्थ प्रादुर्भाव होता ^२ है। दूसरी ‘पद’ धातु ‘सत्ता’ के अर्थ में भी प्रयुक्त होती है। ^३ तदनुसार ‘प्रतीत्यसमुत्पाद’ का अर्थ प्राप्य सत्त्वम् यह होता है। इस अर्थ में कोई भी धर्म या सत्ता ऐसी नहीं होगी, जो ‘प्रतीत्यसमुत्पन्न न हो। ऐसी स्थिति में कोई भी धर्म ऐसा नहीं होगा, जो निःस्वभाव न हो या स्वभावतः शून्य न हो। इस ‘नय’ के अनुसार ‘कार्य’ का ‘कार्यत्व’ प्रतीत्यसमुत्पन्नता में है, न कि किसी स्वभाव में। साथ ही कारण की कारणता या कर्तृत्व भी ‘प्रतीत्यसमुत्पाद’ में ही है। इसलिए इस ‘नय’ में स्वभावतः समुत्पाद का प्रतिविधान करते हुए वस्तु के अस्तित्व मात्र की व्याख्या प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा निरूपित की जाती है।

‘प्रतीत्यसमुत्पाद’ यह वाक्य न केवल कार्य-कारण की ही व्याख्या करता है, अपितु यह अत्यन्त गम्भीर ‘नय’ मध्यमा प्रतिपद के स्वरूप को भी रेखांकित करता है। यहाँ ‘प्रतीत्य’ के द्वारा शाश्वत अन्त का निषेध होता है, तो ‘समुत्पाद’ द्वारा उच्छेद अन्त का। क्योंकि ‘प्रतीत्य’ इस वाक्यांश के द्वारा निरपेक्षता का निषेध करते हुए वस्तु के सापेक्ष नियमों का प्रतिपादन होता है। ‘समुत्पाद’ इस वाक्यांश के द्वारा वस्तु की नितान्त निवृत्ति

१. ‘पद’ गतौ—११६९। पाणिनि।

२. “समु-पूर्वं पदिः प्रादुर्भावार्थः”—प्रसन्न पृ० २।

३. “पद सत्तायाम्”—(उद्धृत अभि० को० भाष्य स्फुटार्था—पृ० ४५३-५४।

बौद्धभारती—सं० १९७०।

यानि उच्छेद का निषेध होता है। इस प्रकार 'प्रतीत्यसमुत्पाद नय' निःश्र, निरपेक्ष, शाश्वत कूटस्थ स्वभाव आदि की परमार्थिक एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार की सत्ता का निषेध करते हुए शाश्वतान्त का खण्डन करता है, तो यह प्रत्येक वस्तु के नितान्त अभाव एवं फल प्रवृत्ति के सर्वथा अभाव का निषेध करते हुए 'मध्यमाप्रतिपदा' का विधान करता है। इस प्रकार यह 'नय' निषेध मुख से 'शून्यता' का निरूपण करता है, तो विधिमुख से कार्य कारण, कर्म फलादि लोक व्यवहार के विशेष नियमों को उपस्थापित करता है। जैसे कहा गया है—

यदा सर्वमिमं लोकं संकलामेव पश्यति ।

संकलामात्रमेवेदं तदा चित्तं समाधियते ॥

(लङ्कावतार सूत्र ३ ११६)

अर्थात् यह लोक संकलापमात्र है, घटना मात्र है और सम्बन्ध मात्र है। पण्डित जन जब इसकी संकलापमात्रता एवं इसकी सम्बन्धमात्रता यानि प्रतीत्यसमुत्पन्न मात्रता को देखेंगे और इसका अवगहन करेंगे, तब उनका चित्त समाधिस्थ हो जाता है, अर्थात् उनका चित्त विकल्पों के प्रपञ्च से सदा के लिये विमुक्त होकर उपशान्त निष्प्रपञ्च समाधि में स्थित हो जाता है।'

इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद की यथार्थता के अधिगम से समस्त दृष्टिस्थान निरस्त हो जाते हैं और तत्-सम्बन्धित सभी प्रकार की दृष्टियों का भी प्रहाण हो जाता है। साथ ही इससे व्यक्ति विकल्पविमुक्त एवं निरासक्त हो जाता है और वह लोकव्यवहारों का अत्यन्त संवेदनशील सूक्ष्मदर्शी हो जाता है। इसी संवेदनशीलता से उनमें महाकरुणा का प्रादुर्भाव होने लगता है तथा उसकी उस सूक्ष्म दर्शिता से उनमें असीम प्रज्ञा का वर्चस्व प्रस्फुटित होने लगता है। प्रज्ञा एवं करुणा के युगल मार्ग से परमपद अर्थात् सम्पक् सम्बोधि पद की प्राप्ति होती है। यह पद प्रज्ञापारमिता की अन्तिम स्थिति है। इसलिए प्रतीत्यसमुत्पाद को महान् प्रज्ञाभूमि माना जाता है। इस तरह प्रतीत्यसमुत्पाद 'नय' हर युग में हर मुद्दे पर हर प्रकार के विचारों के लिये हर समय नया आश्रय प्रस्तुत करता है। उपर्युक्त गम्भीर नय की ओर इङ्गित करते हुए आचार्य कहते हैं—

सर्वभावस्वभावानां शून्यत्वादुपदिष्टवान् ।

प्रतीत्यजत्वं भावानां तदतुल्यस्तथागतः ॥ ६८ ॥

इदम्प्रत्ययताज्ञानाद् दृष्टिबालविनिर्गतः ।

अस्पष्टो यः प्रति निर्वाणं रागप्रतिघमोहहः ॥ ७३ ॥

(शून्यतासप्ततिः)

इत्यादि ।

कर्म फल की स्थिति

अनेकानेक युक्तियों एवं प्रमाणों के द्वारा वस्तुओं के नित्य-अनित्य, लक्ष्य-लक्षण, भाव-अभाव, संख्या और काल, कार्य-कारण, कर्म-फल, क्रिया-कर्ता, उत्पाद-स्थिति, बन्ध-मोक्ष, क्षणभङ्गता आदि सभी प्रकार की व्यवस्था, सत्ता एवं स्वभावमात्र का निषेध कर देने पर यह प्रश्न उठता है कि—क्या सब कुछ अभावमात्र है, या कहीं कोई किञ्चित् सत् भी है ? इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—हाँ, किञ्चित् सत् भी है। कैसे ? जैसे—

निर्मिमीते यदा ऋद्ध्या भगवांश्च तथागतः ।

तेन निर्मितकेनापि ह्यन्यो निर्मीयते पुनः ॥ ४० ॥

(शून्यतासप्ततिः)

इत्यादि। अर्थात् रूपादि वस्तु की सत्तामात्र का निषेध कर देने के बाद भी कुछ रह जाता है। जैसे—भगवान् ने अपने ऋद्धि बल से किसी कन्या आदि निर्मितक का निर्माण किया हो; साथ ही उस निर्मितक कन्या ने भी पुनः अन्य कोई कन्या का निर्माण किया हो; तो इन दोनों निर्मितक कन्याओं के नाम संज्ञा आदि की एक प्रकार की व्यावहारिक सत्ता सर्वसाधारण होती है। जैसे उन्हें देखने वाले लोगों के प्रति उनकी प्रतिभासिक सत्ता, उन्हें अपने स्मरण पटल पर रख कर याद करने एवं उनके गुण दोषों की विवेचना करने वालों के प्रति बौद्धिक सत्ता, उन्हें देख कर जिनके चित्त में रागादि का संचार होता है, ऐसे लोगों के प्रति सांक्लेशिक सत्ता, उन्हें देखकर या उन्हें आलम्बन बनाकर जिनमें वैराग्यभाव उत्पन्न होता है, ऐसे लोगों के प्रति वयवदानिक सत्ता विद्यमान रहती है। तथापि वास्तव में उन दोनों निर्मितक कन्याओं की सत्ता केशोण्डुक के समान असत् एवं मिथ्या ही होती है और अनुपहत दृष्टि वालों के समक्ष वह खपुष्प के समान असत् ही होती है। यद्यपि उन निर्मितकों की वस्तु सत्ता खपुष्प के समान ही है; पर उनसे सम्बन्धित व्यावहारिक जगत् में उनका कर्ता, क्रिया और कर्म आदि सबका सब व्यवहार होता है। उसी प्रकार कर्म-फल एवं कार्य-कर्ता आदि धर्मों की व्यावहारिक सत्ता का भी प्रतिवाद नहीं किया जा सकता है।

संक्षेप में, सभी प्रकार के स्वभाव एवं सत्ता का निषेध कर देने के बाद भी 'प्रतीति' का निषेध नहीं हो पाता है और न उसका निषेध किया ही जा सकता है। इनका सारांश केवल इतना ही है कि सम्पूर्ण प्रज्ञापारमितासूत्रों एवं उससे सम्बन्धित शास्त्रों का प्रतिषेध्य विषय प्रतीतिके साथ प्रतीयमान वह आकार है, जिसके आधार पर घट-पटादिको हम वास्तविक समझते हैं। वास्तव में यही सत्याभिनवेश का स्थान है। इसके निरस्त होने के बाद उस माया-कन्याके समान 'वह प्रतीति' मात्र प्रतीति ही रह जाती है। वह केवल 'इदप्रत्ययता' मात्र रह जाती है और साथ किसी भी युक्ति या प्रमाण के द्वारा इसकी इस इदंप्रत्ययता का अपलाप भी नहीं किया जा सकता है। यह लौकिक एवं अलौकिक, अर्थात् समस्त व्यवहारों एवं व्यव-

स्थाओं का आधार हुआ करती है। जिस प्रकार शून्यता परमार्थ के रूप में सत्य हैं, उसी प्रकार यह प्रतीति भी संवृत्ति के रूप में उसी प्रकार सत्य एवं तथ्य है। सत्य होने में इन दोनों में कोई अन्तर नहीं होता है। जिस दर्शन में इन दोनों सत्त्यों में से किसी एक का अपलाप होता है, तो दोनों का अपलाप होना अनिवार्य हो जाता^१ है। यही कारण है कि माध्यमिक दर्शन में व्यवहार के नियमविप्लव होने के लिए कोई अवकाश नहीं होता है।

इतना ही नहीं, इस नय के अनुसार रूपादि की प्रतीति, जो स्वभावतः मायाकन्या के समान मिथ्या होते हुए भी जिसका अपलाप नहीं किया जा सकता, रूपादि धर्मों की निःस्वभावता को अभिव्यक्त करती है और यह शाश्वत अन्त का आत्यन्तिक रूप से निषेध करती है। दूसरी ओर उस प्रतीति के द्वारा निरूपित रूपादि वस्तुओं की निःस्वभावता अपने अधिष्ठान उक्त 'प्रतीति' की मिथ्यता, सापेक्षता एवं प्रतीत्यजमात्रता का विधान करती है और साथ ही यह कार्य-कारण के उच्छेद अन्त का आत्यन्तिक रूप से निषेध करती है। ये माध्यमिक दर्शन के असाधारण मुद्दे हैं। इस असाधारण तथ्य की ओर संकेत करते हुए आचार्य कहते हैं—

कर्ता निर्मितकेनैव कर्मनिर्मितसादृशम् ।

शून्यं स्वभावतो यत्सत् कल्पनामात्रमेव तत् ॥ ४२ ॥

अपि च—

इदं प्रतीत्य चास्तीदं न रोवो लोकपद्धतेः ।

प्रतीत्यजास्तु निःसत्त्वाः सन्त्येते निश्चयः कथम् ॥ ७१ ॥

(शून्यतासप्ततिः)

इत्यादि। उपर्युक्त 'नय' से प्रभावित होकर आचार्य 'चोङ् खा-पा' कहते हैं कि—
“सामान्यतः शून्यता' के द्वारा 'शाश्वत अन्त एवं प्रतीति के द्वारा उच्छेद अन्त का निषेध करना चार्वाक से लेकर सभी दार्शनिक प्रस्थानों की एक सामान्य मान्यता है। इसके विपरीत प्रासङ्गिक 'नय' के अनुसार प्रतीति के द्वारा शाश्वत अन्त का निषेध होता है तो शून्यता के द्वारा उच्छेद अन्त का^२ ।” इत्यादि

१. तुलना—उपायभूतं व्यवहारसत्यं उपेयभूतं परमार्थसत्यम् ।

तयोर्विभागं न परैति यो वै मिथ्याविकल्पः स कुमार्यातः ॥८०॥

(मध्यमकावतार-६)

२. द्र. चोङ् खा पा—सुङ्खा-पा—' पृ० ७३-७४' ।

प्रस्तुत संस्करण

शून्यतासप्तति का प्रस्तुत संस्करण भोटी, संस्कृत एवं हिन्दी, इन तीन माषाओं में एक साथ प्रस्तुत किया जा रहा है ।

भोटी का संपादन—भोटी पाठ का सम्पादन उपलब्ध सभी संस्करणों के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा उपस्थापित किया गया है । इस ग्रन्थ के भोट देशीय संस्करण (तिब्बती में अनूदित संस्करण) में जो गद्यात्मक वृत्ति के रूप में है, वह भारतीय उपाध्याय जिनमित्र एवं अनुवादक लोचावा 'ये-शेस् स्दे' (जान सेन) के अनुवाद पर आधारित^१ है । पद्यात्मक जो मूल के रूप में प्रस्तुत है, वह लोचा-वा शोन्-नु-छोग (= कुमारवर) जन्-धर्म-ग्रडम (जन धर्मकीर्ति) एवं 'खु' लोचावा के अनुवादों से, जो अर्थ एवं शब्द दोनों की दृष्टि से उचित जान पड़ता है, संग्रह करके लिखा गया है, उस पर आधारित है^२ । इन दोनों ग्रन्थों के विभिन्न स्रोतों से प्राप्त विभिन्न संस्करणों में अनेकानेक पाठभेद पाये जाते हैं । इनमें से स्दे-गे 'संस्करण, स्तार-थद् संस्करण जापानी संस्करण, जो पैकिङ् संस्करण पर आधारित है, एवं चीने संस्करणों में उपलब्ध पाठ भेद प्रायः शब्दगत भेद है । लहा-मा संस्करण में उपर्युक्त सभी संस्करणों से कुछ भिन्न ही पाठ मिलते हैं । इनके अतिरिक्त और भी बहुत सी इस ग्रन्थ की प्रतियाँ मिली हैं, उन सब प्रतियों में भी कुछ न कुछ पाठान्तर मिल ही जाता है । अनेकानेक पाठान्तरों के कारण पाठ निर्णय करने में बहुत सी कठिनाइयाँ भी सामने आई हैं । किन्नौर के किसी पुराने घर से इस ग्रन्थ की एक हस्त-लिखित प्रति जो स्ववृत्ति के साथ है, भी प्राप्त हुई, जिससे पाठ निर्णय करने में पर्याप्त सहायता मिली । अतः इस संस्करण में जिन पाठ भेदों को तुलनात्मक अध्ययन के लिये उचित समझा, वे सब नीचे फुट नोट' के रूप में सन्दर्भ प्रस्तुत किये गये हैं ।

इस ग्रन्थ पर भोट देशीय आचार्यों की कोई टीका-टिप्पणी उपलब्ध नहीं है । केवल खन् पो-जन् फन् स्नङ् वा की एक टिप्पणी, जो मूलगत पद्यों को मात्र गद्य बना कर लिखी गई है, प्राप्त हुई । तन-ग्युर संग्रह में इन ग्रन्थों पर आचार्य चन्द्रकीर्ति एवं आचार्य 'परोपकार' द्वारा लिखी दो टीकाएँ उपलब्ध हैं । पाठ निर्णय में इन टीकाओं से भी सहायता ली गई है ।

संस्कृत में पुनरुद्धार-ग्रन्थ के प्रस्तुत संस्करण का 'संस्कृत' पाठ भोटी से पुनरुद्धार किया गया रूप है । इस ग्रन्थ के भोटी मूल में ७३ कारिका हैं, जिनको यहां कारिका यानि श्लोक के रूप में ही उपस्थापित करने की चेष्टा की गई है । ग्रन्थ के मूलगत श्लोक प्रायः सब के

१. द्र० ग्रन्थ के अन्त में ।

२. द्र० स्तार-थद् संस्करण एवं जापानी संस्करण-पृ० ३० । 'च' । १ 'त' १३-१४ ।

सब अनुष्टुप् में ही है। पर मूल के लहासा संस्करण में ७० वाँ श्लोक ग्यारह अक्षरों का है। शब्द विन्यास की दृष्टि से विचार करने पर इसका रूप संस्कृत में 'उजाति' नामक छन्द में बन रहा है। पर अन्य सभी संस्करणों में यह श्लोक भी अनुष्टुप् में ही प्राप्त है। अतः प्रस्तुत पुनरुद्धार में भी इसे अनुष्टुप् का ही रूप दिया गया है।

पुनरुद्धार की विशेषता— इस पुनरुद्धार कार्य में भोट देशीय अनुवादकों की कार्य प्रणाली ही अपनायी गयी है। जैसे का ग्युर एवं तन्ग्युर अर्थात् त्रिपिटक एवं उससे सम्बन्धित शास्त्रों को मूल भारतीय भाषा संस्कृत आदि से भोटी भाषा में अनूदित करते समय सर्वथा इस बात का ध्यान रखा गया है कि अनुवाद शब्दशः एवं पदशः हो, साथ ही अर्थ की अभिव्यक्ति भी शत प्रतिशत हो। इसी दृष्टि से मूल ग्रन्थ में जिस वस्तु के लिये जो शब्द प्रयुक्त है; भोटी में भी उस वस्तु के लिए उसी शब्द का भोटी पर्याय प्रयुक्त किया गया है। यही कारण है कि जिस मूल संस्कृत ग्रन्थ में शब्दों की संख्या जितनी होती है उस ग्रन्थ के भोटी अनुवाद में भी प्रायः उतने ही शब्द प्रयुक्त हुए हैं। मूल संस्कृत में जो कारिका जिस छन्द में लिखी गई है; भोटी में भी वह कारिका प्रायः उसी छन्द में ही उपलब्ध होती है। फलतः भोटी अनुवाद में शब्दों की संख्या, कारिका, छन्द आदि मूल ग्रन्थ से बहुत भिन्न नहीं हुए हैं। प्रस्तुत संस्कृत पुनरुद्धार में भी इसी पद्धति को यथा सम्भव अपनाने का प्रयास किया गया है। साथ ही यह भी पूर्ण रूप से ध्यान में रखा गया है कि शब्दों के यथास्थान विन्यास के प्रयास में अर्थ का विप्लव न हो।

ससन्दर्भ संपादन—यह तो कहा जा चुका है कि यह ग्रन्थ प्रज्ञा नामक मूल माध्यमिक कारिका से सम्बन्धित आगम विरोधी प्रश्नों के सन्दर्भ में लिखा गया है। पर मूल ग्रन्थ में प्रश्नों से सम्बन्धित आगम या सूत्रवचनों का विवरण उल्लिखित नहीं है और न इसकी स्ववृत्ति में। आचार्य चन्द्रकीर्ति की व्याख्या में यद्यपि एक दो सूत्रवचनों का उदाहरण अवश्य प्राप्त है, पर उसमें भी सूत्रों का विवरण नहीं दिया गया है। इस कमी के कारण आज के शोध कर्ताओं को बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इस मुद्दों को ध्यान में रख कर ग्रन्थ में निहित प्रश्नों का स्रोत एवं सम्बन्धित सूत्रवचनों को ससन्दर्भ एवं विवरणसहित प्रस्तुत करने का भी लघु प्रयत्न किया गया। उक्त सूत्रवचन मूल-ग्रन्थ में सम्मिलित न कर नीचे टिप्पणी के रूप में रखे गये हैं। दूसरे सूत्रवचनों का संग्रह भी महायानसम्मत त्रिपिटक, जो भोटी अनुवाद के रू में उपलब्ध है, एवं स्थविरवाद सम्मत पालि त्रिपिटक, दोनों से किया गया है, जिससे पाठकों को यह आभास मिल सके कि नागार्जुन ने इस सक्षिप्त ग्रन्थ के माध्यम से सम्पूर्ण बुद्ध वचनों का सारांश किस प्रकार उपस्थापित किया है।

हिंदी अनुवाद—यह तो सर्वविदित है कि प्रस्तुत ग्रन्थ नागार्जुन ने मूलरू से संस्कृत में लिखा है। इसलिये इसे संस्कृत में ही पुनरुद्धार करना एक आवश्यक कार्य था। पाठकों

की सुविधा एवं अर्थसुगमता की दृष्टि से इसका हिन्दी अनुवाद भी निष्प्रयोजन नहीं है। यह अपना अलग महत्त्व रखता है। अतः पाठकों के समक्ष हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत किया जा रहा है।

हिन्दी अनुवाद में भी ग्रन्थ के मूलगत शब्द यथास्थान रखे गये हैं और अर्थ सुगमता की दृष्टि से अनुवाद में जहाँ कहीं अतिरिक्त शब्दों को जोड़ना आवश्यक समझा गया वहाँ चन्द्रकीर्ति की टीका से कुछ शब्दों को लेकर यथास्थान जोड़ा गया है, पर ये अतिरिक्त शब्द () इस तरह के कोष्टक चिह्नों के अन्दर रखे गये हैं। ताकि अनुवाद में अनुवादक का विचार समाविष्ट न हो। इस प्रकार इस लघु ग्रन्थ को अपने मूल स्वरूप में बिना कुछ परिवर्तन किये यथासम्भव आधुनिक अध्ययन पद्धति के अनुरूप प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है।

परिशिष्ट—नागार्जुन के नाम से उपलब्ध —“ईश्वरकर्तृत्वनिराकरण” नाम के एक अल्पकाय ग्रन्थ भोटदेशीय ‘तनग्युर’ सग्रह से प्राप्त हुआ है। इसका मूल संस्कृत भोटो लिपि में लिखा हुआ है। पर यह अत्यन्त त्रुटिपूर्ण अवस्था में है। साथ ही इसका भोटो अनुवाद भी उपलब्ध है। यह अनुवाद बहुत कुछ सही रूप में प्राप्त है। इन दोनों को आचार्य के अन्य ग्रन्थों के साथ तुलनात्मक अध्ययन द्वारा सम्पादित किया गया और आवश्यक टिप्पणियों के साथ उन्हें इस ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट के रूप में रखा गया है। आकार की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त अल्पकाय है। इसमें कुल ६६६ शब्द प्रयुक्त हैं। श्लोक की दृष्टि से इसमें छः शब्द कम कुल एकतीस (२१) श्लोक हैं। इस प्रकार ग्रन्थ अतिसंक्षिप्त मात्र सूत्र के रूप में ही है, पर माध्यामिक दर्शन की दृष्टि से यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है।

इसके संस्कृत वाले अंश की त्रुटियों को यथासम्भव दूर करके पाठान्तरों को विचारार्थ नीचे टिप्पणी के रूप में रखा गया है। विषय के दुर्बोध स्थलों को स्पष्ट करने के हेतु (भोट पाठ में) विस्तृत टिप्पणियाँ भी प्रस्तुत की गई हैं।

सम्पादोर्ज

शून्यतासप्ततिः

स्वोपज्ञवृत्त्या समन्विता

आर्यमञ्जुश्रिये ज्ञानसत्त्वाय नमः^१

उत्पादस्थितिभङ्गास्तिनास्तिहीनसमोत्तमम्^२ ।

लौकिकव्यवहारात् बुद्धेनोक्तं न तत्त्वतः ॥ १ ॥

उत्पाद, स्थिति, भङ्ग, अस्ति, नास्ति, हीन, मध्य और उत्तम (आदि सब) की देशना बुद्ध ने लोक व्यवहारवश दी है, तत्त्वतः नहीं ॥ १ ॥

उत्पादश्च स्थितिश्च भङ्गश्चास्ति च नास्ति च हीनश्च समश्चोत्त-
मश्चेत्येतत् (सर्वं) बुद्धेन लौकिकव्यवहारवशादुक्तम्, न तु तत्त्वतः ॥ १ ॥

१. यह स्तुति लोचावा “येशेस्-स्दे” की है । यह ज्ञातव्य है कि—भोटदेशीय अनुवादकों की सर्वमान्य पद्धति है कि प्रत्येक ग्रन्थ के अनुवाद के पहले सम्बन्धित ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप किसी इष्टदेव की स्तुति करना । कुछ परम्परा के लोग इसे राजाज्ञा मानते हैं ।

२. यों प्रायः हर रचना का आरम्भ मङ्गल गाथाओं से होता है, पर प्रस्तुत ग्रन्थ में कोई मङ्गलाचरण नहीं है । इसके अनेक कारण बताए जाते हैं । इस सम्बन्ध में आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि—‘शून्यतासप्तति’ स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, यह मूल मध्यमक कारिका का परिशिष्ट ग्रन्थ है [द्र०—युक्तिषष्टिकावृत्ति० पृ० ४, स्दे० तन्० द्वु-मा ‘य’ पुटे] । (ख) आचार्य चोङ्खापा का कथन है कि ‘शून्यतासप्तति’ मूल मध्यमक कारिका के सातवें प्रकरण की—

यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा ।

तथोत्पादस्तथा स्थानं तथा भङ्ग उदाहृतम् ॥ ७।३४ ।

इस कारिका से सम्बन्धित प्रश्नों का समाधान है [द्र०—मूल मध्यमक का० टीका पृ० ६, सारनाथ संस्करण, १९७३] ।

उत्पाद, स्थिति, भङ्ग, सत्, असत्, हीन, मध्य और उत्तम (विशिष्ट) (आदि जो भी हो) उन सब की देशना बुद्ध ने लोकव्यवहारवश (अर्थात् लौकिक व्यवहार की दृष्टि से ही) दी है, न कि तत्त्व-वश (अर्थात् तात्त्विक दृष्टि से नहीं दी है) ॥ १ ॥

अत्राह

ननु आत्मेत्यादिः योऽभिहितः, स नास्ति किम् ? आत्मा नास्ती-
त्यपि बुद्धिप्रवृत्तेः, अवश्यमेवास्त्यात्मा ?

अत्रोच्यते

आत्मा कश्चिन्न चानात्मा ह्यात्मानात्मेतरश्च न ।^१

कथमिति चेत् ?

वाच्यः सर्वः स्वभावेन शून्यो निर्वाणसदृशः ॥ २ ॥

‘आत्मा’ इत्यादि जो कहा गया है, क्या वह नहीं है ? ‘आत्मा नहीं है’ इस प्रकार की बुद्धि के भी प्रवृत्त होने से अवश्य ही आत्मा है (ऐसा मानना चाहिये) ?

कहा जाता है

आत्मा, अनात्मा और आत्मानात्मा से इतर (अतिरिक्त) कोई भी अभि-
धेय (विषय या पक्ष) नहीं है । क्योंकि सभी भाव (अभिधेय धर्म) निर्वाण के
समान निःस्वभाव (स्वभावतः शून्य) हैं ॥ २ ॥

आत्मा नास्त्यनात्मा नास्त्यात्मानात्मेतरश्चापि नास्ति ।

(बुद्धेन) सर्वे भावाः स्वभावशून्या निर्वाणवत् सन्तीति देशिताः ॥ २ ॥

न आत्मा है और न अनात्मा है । आत्मानात्मा से इतर (इन दोनों से भिन्न)
कोई अभिधेय (यानि वाच्य) धर्म नहीं है; क्योंकि सभी अभिधेय धर्म (अर्थात्

१. तुल०—“बुद्धेर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम् ।”—मूलमाध्यमिककारिका

जिनमें शब्द व्यवहार की प्रवृत्ति होती है, ऐसे सभी धर्म) निर्वाण के समान स्वभावतः शून्य हैं, ऐसा बुद्ध ने कहा है^१ ॥ २ ॥

अत्राह

ननु 'सर्वे भावाः स्वभावशून्याः' किमितीयं राजाज्ञा ? अहोस्वित्
'सर्वे भावाः स्वभावशून्याः' इत्यवगमयितुम् अस्ति काचिद् युक्तिरपि ?

अत्रोच्यते

हेतुप्रत्ययसामग्र्यां सर्वस्यां वा पृथक् पृथक्^२
सर्वभावस्वभावो न तस्माच्छून्यं हि विद्यते ॥ ३ ॥

'सभी भाव स्वभावतः शून्य हैं, क्या यह कथन राजाज्ञा है ? अथवा 'सभी भाव स्वभावतः शून्य हैं', ऐसा अवबोध कराने वाली कुछ युक्तियाँ भी हैं ?

यहां कहना है कि

सभी भावों का स्वभाव हेतु-प्रत्ययों की सामग्रता में, (उनकी) पृथक्-पृथक् (अवस्थाओं) में अथवा (सम्मिलित अवस्थाओं में खोजने पर) नहीं (मिलता) है । अतः (वह) शून्य है ॥ ३ ॥

१. (क) दूसरे श्लोक की वृत्ति वाला यह अंश भोट देशीय पाठों में उपलब्ध नहीं है । यह चीनी स्रोत से प्राप्त पाठों में ही मिलता है ।

(ख) दूसरे इस वृत्ति में निहित शब्द एवं भाव के अनुसार—मूल कारिका का रूप —

आत्मा नास्ति न चानात्मा आत्मानात्मा न कश्चन ।

निःस्वभावा हि ते भावा निर्वाणमिव देशिताः ॥ इति ॥

यह होगा । कुत्रचित्—

(ग) "निःस्वभावा हि ते भावा निर्वाणसमवाच्याः" ॥ इत्यमपि पाठ उपलब्धते ।

स्देगे-संस्करण मूल-पृ० २४ 'च' पुटे ।

२. ल्हासा संस्करणे—

'पृथक्-पृथक् सर्वे' इति पाठः—ल्हा० सू० पृ० १ ।

यस्मात् सर्वभावानां स्वभावो हेतौ वा प्रत्यये वा हेतुप्रत्ययसामग्र्यां वा सर्वभावेषु चापि, सर्वत्र नास्ति । तस्मात् सर्वभावस्वभावेन शून्य-मित्युच्यते ॥ ३ ॥

क्यों कि सभी भावों का स्वभाव हेतुओं, प्रत्ययों, हेतु प्रत्ययों की सामग्रता में अथवा सभी भावों में (अर्थात्) सब में सर्वत्र विद्यमान नहीं है । इसलिये सभी भाव स्वभावतः शून्य हैं; ऐसा कहा गया है ॥ ३ ॥

अपि च

भावो नोत्पद्यते भावान् नाभावोऽविद्यमानतः ।
सदसन्न विरोधान्न स्थितिभङ्गो ह्यजातितः ॥ ४ ॥

भाव (वस्तु) का उत्पाद नहीं होता है; क्योंकि वह सत् है (अर्थात् विद्यमान है) । अभाव का (भी) उत्पाद नहीं होता है; क्योंकि वह असत् (अर्थात् अविद्यमान) है । विरुद्ध (स्वभाव वाले) धर्म होने से सदसत् का भी (उत्पाद) नहीं होता है । उत्पाद के अभाव में स्थिति और भङ्ग भी नहीं होते हैं ॥ ४ ॥

भावो भावान् न हेतोरुत्पद्यते भवन् हि भाव इत्युक्तत्वात् । अभावो-
ऽभावादेव न जायते हेतोः । भावाभावद्वयमपि हि परस्परविरोधान्न जायते
विमदृशतया । एवं भावाभावयोः अन्योन्यविरुद्धधर्मित्वेन वैधर्म्यात् कुतो
जायतां भावाभावरूपत्वम् ? स्थितिर्निराधश्चापि न स्तः, अनुत्पत्तेः ॥ ४ ॥

भावका उत्पाद हेतु से नहीं होता है; क्योंकि वह विद्यमान है । विद्यमान को ही सत् कहा जाता है । असत् (अविद्यमान) होने से (उसका) उत्पाद (भी)

१. (क) "सर्वे ह्यभावा न हि कश्चि भवतः ।"

समाधिराजसूत्र—८।४.५ ।

(ख) एव शारिपुत्र, सर्वधर्माः शून्यतालक्षणा, अनुत्पन्ना, अनिरुद्धा, अमला, विमला,
अनुना असम्पूर्णाः ।—द्र० प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्रम्, पृ० ६८ ।—महायान सू०
सं० प्रथम खंड मिथिला सं० १९६१ ।

(ग) तद्यथा सर्वधर्माः स्वभावविशुद्धाः । सर्वधर्माः स्वभावशून्या, स्वभावशून्यतया
प्रज्ञापारमिताविशुद्धिर्भवति ।—अर्धशतिका प्रज्ञा०—पृ० ६० । वहीं ।

हेतुतः नहीं हुआ करता है । प्रतिकूल (स्वभाव का योग) होने से भावाभाव का उत्पाद भी नहीं होता है; (क्यों कि वे) परस्पर विरुद्ध (स्वभाव के) होते हैं । इस प्रकार 'सदेसत्' परस्पर विरोधी होने से (दोनों एक दूसरे के) विधर्मा होते हैं । अतः 'सत्' भी हो और 'असत्' भी हो (ऐसी वस्तु का) उत्पाद कैसे हो सकता है? (अर्थात् नहीं हो सकता) । उत्पाद न होने से स्थिति और भङ्ग भी नहीं होते हैं ॥ ४ ॥

अत्राह

उत्पाद-स्थिति-भङ्गा इति संस्कृतस्य लक्षणत्रयमुक्तम्^१ (बुद्धेन) ।
उत्पादकाले उत्पादोऽपि देशितः । अतः अस्ति कस्माच्चित् संस्कृतस्य
उत्पादः ?

अत्रोच्यते

न जायते यदा जातं नाजातमपि जायते ।
जाताजाताच्च नैवं हि जायमानोऽपि जायते ॥ ५ ॥

संस्कृत (धर्म) को उत्पाद-स्थिति और भङ्ग त्रिविध लक्षणों से युक्त कहा गया है । तथा (बुद्ध ने) उत्पाद के उत्पाद की भी देशना दी है । अत एव वस्तु का उत्पाद किसी कारण (सामग्री) से होता ही है ?

उत्पन्न (पदार्थ) उत्पाद्य नहीं होता है; अनुत्पन्न भी उत्पाद्य नहीं हुआ करता है । उत्पद्यमान भी उत्पाद्य नहीं होता है; क्योंकि (वह) उत्पन्न और अनुत्पन्न (इन दोनों में ही अन्तर्भूत हो जाता) है ॥ ५ ॥

१. (क) त्रीणिमानि संस्कृतस्य संस्कृतलक्षणानि । संस्कृतस्य भिन्नवः उत्पादोऽपि प्रजायते, व्ययोऽपि, स्थित्यन्यथात्वमपीति—” उद्धृत० प्रसन्न० पृ० ५६ ।
मिथिला सं० १९६० ।

(ख) तीणि लक्षणानि—उत्पादलक्षणं, वयलक्षणं, ठितञ्जयतलक्षणं । द्र०—
२।१०५; खुद्द० नि० पटिसंभितामग, भाग-५ ।

(ग) उत्पादस्थितिभङ्गा न त्रयं संस्कृतलक्षणम् ।

न तावज्जातं जायते । कुतः ? जातत्वात् । न हि जनितश्च जायते ।^१
अजातमपि न जायते । कस्मात् ? अजातत्वात् । यदजातं तद्धि न जायते;
व्यापाररहितत्वात्, असामर्थ्यात्, अभावाच्च । तस्मान्न जायते ।

जायमानमपि न जायते । किमिति ? तच्चु जाताजातयोरवसितत्वात्;
यद्धि जाताजातरूपं, तदपि पूर्वोक्तक्रमेणैव न जायते । जातं तु तावज्जा-
तत्वाच्च जायते । यदजातं तदपि च अजातत्वाज्जन्मव्यापाररहितत्वात्,
असामर्थ्यात्, अभावाच्च न जायते ।^२ अत एव यस्माज्जाताजाताभ्यां
व्यक्तिरिक्तं तृतीयं जायमानमपि नास्ति; तस्माज्जायमानमपि न
जायते ॥ ५ ॥

कदाचित् उत्पन्न (पदार्थ) उत्पाद्य नहीं हुआ करता है; क्यों कि उसका उत्पाद
हो चुका है । (जिसका) उत्पाद हो चुका होता है; (उसका पुनः) उत्पाद नहीं
होता है । (जो पदार्थ) उत्पन्न नहीं है, (वह) भी उत्पाद्य नहीं होगा; क्यों कि (वह)
अनुत्पन्न है । (अर्थात्) जो अनुत्पन्न होता है; (वह) अनुत्पाद्य हो होता है; क्यों कि
(वह) असत्, अशक्त और व्यापार-रहित होता है । इसलिये (वह) अनुत्पाद्य है ।

उत्पद्यमान (पदार्थ) भी उत्पाद्य नहीं होता है; क्यों कि वह, तो उत्पन्न और
अनुत्पन्न (इन दोनों) में ही समाप्त हो जाता है । उत्पन्न और अनुत्पन्न अर्थात्
जायमान भी पूर्वोक्त क्रम से ही उत्पाद्य (सिद्ध) नहीं होता है; क्यों कि कदाचित् (वस्तु
का जो अंश) उत्पन्न है, (वह) तो उत्पन्न हो चुका है । जो (अंश) अनुत्पन्न है,
वह तो अनुत्पन्न, उत्पाद-व्यापार से रहित, अशक्त और असत् होता है । अतः
(वह) उत्पाद्य नहीं (हो सकता) है । अत एव क्योंकि उत्पन्न और अनुत्पन्न से अतिरिक्त
अन्य तीसरा उत्पद्यमान कुछ भी नहीं है । इसलिये उत्पद्यमान भी उत्पाद्य नहीं
होता है ॥ ५ ॥

१. 'नहि उत्पन्नं भवति उत्पामि'तिति पाठः, स्वे-गे-संस्करणे । पृ० ११० । 'च' पुटे ।

२. 'नाहमायुष्मन् शारिपुत्र, अनुत्पन्नस्य धर्मस्य प्राप्तिमिच्छामि, नाप्यभिसमयम् ।
नाप्यनुत्पन्नेन धर्मेण अनुत्पन्ना प्राप्तिः प्राप्यते' इत्यादि । द्र०-अष्टसाहस्रिका, १-परि०,
पृ० १५, मिथिला स० १९६० ।

अपि च

हेतोरनुपपत्तेरप्यनुत्पादः । कस्मात् ?

फले स्यात् फलवान् हेतुः नास्तित्वेऽहेतुना समः ।
सदसत्त्वे विरोधित्वं त्रैकाल्ये नोपपद्यते ॥ ६ ॥

हेतु (सामग्रियों) के अनुपपन्न होने से भी उत्पाद (की सत्ता) नहीं होती है ।
(वह) कैसे ?

(कोई भी पदार्थ हो) यदि (उसका) फल हो, तो फलवान् होने से (वह) हेतु (बनने योग्य हो जाता है और उसमें हेतु का व्यवहार) होता है । (जिसका) फल न हो, तो वह अहेतु के समान ही होता है । (यदि फल) सत् और असत् (दोनों) हो, तो विरुद्ध (स्वभाव का योग) हो जाने से (वह सत् नहीं हो सकता) है । (अत एव) तीनों कालों में भी (हेतु की सत्ता) उपपन्न नहीं होती है ॥ ६ ॥

फले सति हेतुः फलवान् स्यात् । असति च तत्फले सः (हेतुः)
अहेतुसमो भवेत् । न च फलस्य सदसत्त्वम्, विरोधात् । न च सदसत्त्वम्
एकस्मिन्नेव काले भवेत् ।

अथ च, कालत्रयेऽपि हेतोरनुपपत्तिः । कथम् ? यदि हेतुः (फलात्)
पूर्वं कल्प्येत, कस्य खलु स हेतुः । यदि पश्चात् कल्प्येत, निष्पन्ने किं
प्रयोजनम् । यदि हेतुफलयोर्यौगपद्यं कल्प्येत, युगपदुत्पन्नयोः हेतुफलयोः
कः कस्य हेतुः, किं कस्य फलम् ? अतः त्रिविधेषु कालेषु हेतुर्नोपपद्यते ॥ ६ ॥

१. (क) फलाभावात्प्रत्ययाप्रत्ययाः कुतः । द्र०—मध्यमक शास्त्र, १।१६॥

(ख) 'यो न विद्यति सभावतः क्वचि'

सो न जातु परहेतु भेष्यति ।

द्र०—आर्यरत्नाकरसूत्रे, यह अंश, प्रसन्नपदा में उद्धृत है; द्र०—पृ० ३१,

मिथिला-संस्करण—१९६० ।

यदि फल हों, तो फलवान् (पदार्थ) हेतु होता है । फल न हो, तो वह अहेतु के ही समान हो जाता है । (जो) फल सत् भी हो और असत् भी, तो (एक ही धर्म में दो) विरोधी (धर्म का योग) हो जाता है । (परन्तु) सत् और असत् दोनों एक ही काल में (एक साथ) नहीं हुआ करते हैं ।

और भी,

त्रिकाल में भी हेतु उपपन्न नहीं होता है । कैसे ? यदि कदाचित् हेतु की कल्पना (फल से) पूर्व में की जाए, तो वह किसका हेतु है ? यदि बाद में की जाए, तो (फल के) सिद्ध हो जाने के बाद हेतु का क्या प्रयोजन होगा ? यदि हेतु और फल युगपद् मानेंगे, तो युगपद् उत्पन्न हेतु-फल में कौन किसका फल है और कौन किसका हेतु है ? इस प्रकार तीनों कालों में हेतु उपपन्न नहीं होगा ॥ ६ ॥

सर्वे भावा अशून्याः, संख्याया उपपन्नत्वात् । विद्यत एव 'एकः, द्वौ, बहवः' इति संख्या । संख्याऽपि भावेष्वेव सत्सु उपपद्यते । तस्मात्सर्वे भावा न शून्या इति^१ ?

अत्रोच्यते

नैकत्वेऽनेकवृत्तिर्न नोऽनेकत्वे हि नैकता ।
तत्प्रतीत्यसमुत्पन्नभावास्ते ह्यनिमित्तकाः ॥ ७ ॥

यहाँ कहते हैं

सभी भाव (वस्तु) शून्य नहीं हैं; क्योंकि संख्या (की सत्ता) उपपन्न है । एक, दो, अनेक इत्यादि जो संख्या है, वह सत् है । (इस प्रकार की) संख्या भी भाव के होने पर ही उपपन्न होती है । अतः सर्व भाव शून्य नहीं हैं ?

यहाँ कहना है

एक के बिना अनेक नहीं होता है और एक की प्रवृत्ति भी अनेक के बिना नहीं होती है । इसलिये प्रतीत्यसमुत्पन्न भाव अनिमित्त (ही) होता है ॥ ७ ॥

१. यह प्रश्न ज्योतिषियों का प्रतीत होता है ।—उनके अनुसार संख्या में विन्दु — '०' चिह्न से जो अर्थ संकेतित होता है, वह एक नित्य एवं अपरिवर्तनीय है और उसकी शाश्वत सत्ता है । इसके स्थान पर आने वाले-एक-दो आदि की द्रव्यसत्ता होने पर भी वह अनित्य है । उनकी सत्ता अनित्यता में हैं या इनकी सत्ता व्यावहारिक है ।

यतो ह्यसत्येकत्वेऽनेको न प्रवर्तते । अनेकत्वाभावेऽपि प्रवृत्तिर्नैकस्य;
तस्माद् भावाः प्रतीत्यसमुत्पन्नाः, तत एव चानिमित्तकाः^१ ॥ ७ ॥

(संख्या की सत्ता भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि) एक के बिना अनेक की प्रवृत्ति नहीं होती है । अनेक के बिना भी एक की प्रवृत्ति नहीं होती है । इसीलिये (संख्यात्मक) भाव प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं । अत एव (वे) अनिमित्त (अर्थात् सत्तागत निमित्त से शून्य) हैं ॥ ७ ॥

अत्राह

सूत्रेषु प्रतीत्यसमुत्पादो दुःखनिबन्धनत्वेनापि सविस्तरं^२ निर्दिष्टः ।
तदुपदेशकैराचार्यैरपि^३ 'एकानेकचित्ताश्रितो' दर्शितः । अतो न सर्वे भावाः
शून्या इति ।^४

अत्रोच्यते

द्वादशाङ्गो ह्यनुत्पादः समुत्पादः प्रतीत्यजः ।^५
एकचित्ते न तद् युक्तं बहुष्वपि न युज्यते ॥ ८ ॥

१. संख्या की स्वलक्षणसत्ता मानने वाले बौद्ध सम्भवतः नहीं है । अतः यह पूर्वपक्ष बौद्धेतर ही प्रतीत होता है ।

२. (क) ब्र० "पटिच्चसमुत्पादं वो भिक्खवे, देसेस्सामि"—इत्यादितः—दुक्खखण्डस्स निरोधो होती ति यावत्—संयुक्तनिकाय-१२७२ । नालन्दा संस्करण-१९५९ ।

(ख) विशुद्धिभग्नो—१७ पञ्जा० भाग-३, पृ० १, सं. सं. वि. वि. संस्करण—१९७२ ।

(ग) शालिस्तम्बसूत्र—८।१००—१०६ । महायानसूत्रसंग्रह-भाग-१, मिथिला संस्करण—१९६१ ।

(घ) प्रतीत्यसमुत्पादादिविभङ्गनिर्देश सूत्र—१०।११७-११८ । वहीं ।

३. आनन्द-महाकाश्यप आदि ।

४. यह पूर्वपक्ष स्वयूथ्य वस्तुवादियों का प्रतीत होता है ।

५. भोटदेशीय अनेक ग्रन्थों में—

दुःखनिबन्धनोऽजातः द्वादशाङ्गप्रतीत्यजः ॥ यह पाठ उपलब्ध होता है —
स्ना० संस्करण पृ० ११ च पुटे ।

सूत्रों में (बुद्ध ने) दुःखनिबन्धन (दुःख परिणाम वाले) प्रतीत्यसमुत्पाद का भी सविस्तर निर्देश (किया गया) है । (उसके) उपदेशक (व्याख्याता) आचार्यों ने भी एक चित्त (की दृष्टि से और) अनेक चित्त की (दृष्टि से उसकी) देशना दी है । अतः सर्व भाव शून्य नहीं हैं ?

यहाँ कहना है

द्वादश अंग (वाला) प्रतीत्यसमुत्पाद, जो दुःखनिबन्धन है (अर्थात् जिसका अन्तिम परिणाम दुःख होता है), वह अनुत्पन्न है । एक चित्त में या अनेक चित्तों में (दोनों तरह से उसकी सत्ता) उपपन्न नहीं होती है ॥ ८ ॥

द्वादशाङ्गेषु प्रतीत्यसमुत्पादेषु यो दुःखनिबन्धनः स नोत्पद्यते । एकचित्ते यन्न युक्तं तद् बहुष्वपि न युज्यते । कथं कृत्वा ? यदि चिच्चैकत्वम्, तथा सति हेतुना सह जायते फलम् । यदि चिचनानात्वम्, तथा सत्यप्यङ्गेषु पूर्व-पूर्वस्य निरोध उत्तरोत्तरस्य न हेतुः । अत एव द्विधाऽप्यनुपपत्तेः; अनुत्पादो हि प्रतीत्यसमुत्पादः ।

कस्मादनुत्पादः ? प्रतीत्यसमुत्पादो ह्यविद्याहेतोः सम्भूता प्रज्ञप्तिः । साऽप्यविद्या विपरीतप्रत्ययानुशयिता ? (निर्दिष्टा); सर्वे ते विपरीतप्रत्ययाः स्वभावेन शून्याः; (अतः प्रतीत्यसमुत्पादोऽनुत्पादः) इति ॥ ८ ॥

१. (क) तत्र कतमा “अविद्या ? यत्तत्पूर्वान्तेऽज्ञानम् । अपरान्तेऽज्ञानम्” इत्यादि ।

द्र० अर्थविनिश्चयसूत्रे १९ । पृ० ३१२ । महायान सू० सं० भाग-प्रथम, मिथिला सं०—१९६१ ।

(ख) तत्र अविद्या कतमा ? या एषामेव षण्णां धातूनामेकसंज्ञा पिण्डसंज्ञा । इत्यादि । द्र०—शालिस्तम्बसूत्र, ८ । पृ० १०३ ।

(ग) प्रतीत्यसमुत्पादादिविभङ्गे च० पृ० ११७ । वही ।

(घ) य खो, भिक्खवे, दुक्खे अञ्जाणं, दुक्खसमुदये अञ्जाणं..... इत्यादि । द्र०—संयुक्त नि० १२-२१—पृ० ५ भाग २ । इस प्रकार अविद्या विपरीत संज्ञा एवं अयोनिशोमनसिकार से उत्पन्न निर्दिष्ट है ॥

द्वादश अङ्गवाला प्रतीत्यसमुत्पाद, जो दुःखनिबन्धन है, वह उत्पन्न ही नहीं है। (क्यों कि) वह एक चित्त में और अनेक चित्तों (की सन्तति) में भी उत्पन्न नहीं (हो पाता) है।

वह कैसे नहीं है ?

चित्त (यदि) एक है, तो हेतु के साथ ही फल के उत्पाद का प्रसङ्ग होगा। यदि चित्त अनेक (या नाना) हैं, तो पूर्व-पूर्व अंगों का निरोध अपर-अपर (अङ्गों) का हेतु नहीं होगा। अत एव दोनों प्रकार से (वह) युक्त नहीं होता है। इस लिए प्रतीत्यसमुत्पाद (वस्तुतः) अनुत्पाद है। (वह) क्यों अनुत्पाद है ?

क्यों कि यहाँ (प्रतिपादित द्वादशाङ्ग) प्रतीत्यसमुत्पाद (अपने) हेतु अविद्या से उत्पन्न है (ऐसा) प्रज्ञप्त होता है। वह अविद्या भी विपरोत प्रत्ययों पर (आश्रित है ऐसा सूत्रों में ही) निर्दिष्ट है। वे विपर्यय भी स्वभावतः शून्य हैं ॥ ८ ॥

कस्मादिति चेत् ?

आत्मा नास्ति न चानात्मा नित्यानित्ये दुःखं सुखम् ।
शुचिर्नाशुचिरप्यस्ति विपर्यासा न सन्त्यतः ॥ ९ ॥^१

(वह) कैसे ?

(वह) न नित्य है, न अनित्य, न आत्मा है और न अनात्मा, न शुचि है, न अशुचि, न सुख है और न दुःख। अत एव सभी विपर्यास सत् नहीं हैं ॥ ९ ॥

अनित्यं हि नित्याभावः । असति च नित्ये तद् विपक्षभूतम-
नित्यमपि नास्त्येव । शेषेष्वपि तथैव योज्यम् । अत एव न सन्ति
विपर्यासाः ॥ ९ ॥

१. शुचि आदि ग्राहक चार विकल्पों को, जो अविद्या के प्रत्यय हैं, 'अयोनिशोमन-सिकार' कहा जाता है, इन विकल्पों से अविद्या का उत्पाद होता है। इसलिये अविद्या को अयोनिशोमनसिकारमूलक कहा जाता है।

अनित्य नित्य का अभाव है। नित्य के न रहने से उसका प्रतिपक्षभूत अनित्य भी सत् नहीं है। इसी प्रकार शेष (आत्मा, अनात्मा आदि के सम्बन्ध) में भी (यथा योग्य) योग कर लेना चाहिये। अतः (सभी) विपर्यास सत् नहीं हैं ॥ ९ ॥

तदभावे न चाविद्या विपर्यासचतुष्कजा ।

तदभावान्न संस्काराः स्युः शेषा अपि तादृशाः ॥ १० ॥

इन (विपर्यासों) के अभाव में विपर्यासचतुष्टय से उत्पन्न अविद्या नहीं होगी, इस (अविद्या) के अभाव में संस्कार भी सम्भव नहीं होंगे। इसी प्रकार शेष भी ॥ १० ॥

असत्सु तेषु विपर्यासेषु तत्सम्भूता अविद्याऽपि न भवति । असत्यां चाविद्यायां नोत्पद्यन्ते संस्काराः । तथैव शेषाण्यपि (बोध्यानि) ॥ १० ॥

उन विपर्यासों के अभाव में उनसे उत्पन्न अविद्या नहीं होती है। अविद्या के अभाव में संस्कारों का उद्भव भी नहीं होगा। शेष (अवयवों के सम्बन्ध में भी) इसी प्रकार (से जानना) चाहिये ॥ १० ॥

अपि च

संस्कारेऽसत्यविद्या न नैव स तदभावतः ।

परस्परं हेतुभूते^१ स्वभावेन न सिध्यतः ॥ ११ ॥

१. (क)—एवमयं द्वादशाङ्गः प्रतीत्यसमुत्पादः अन्योन्यहेतुकः अन्योन्यप्रत्ययः । द्र०—शलिस्तम्बसू० ८ । पृ० १०४ महा० सं० मिथिला संस्करण—१९६९ ।

(ख)—“आसवसमुदया अविज्जासमुदयो” (आस्रव के उत्पाद से अविद्या का उत्पाद) आसवनिरोधा अविज्जानिरोधो, द्र०—मज्झिम नि० १ । ७४. (पालि) ।

(ग)—आसवसमुदया चेते सोकादयो होन्ति—विसुद्धिमग्ग—पृ० १३४३ । भाग २, सं० सं० वि० वि० संस्करण—१९७२ । अर्थात् जैसे अविद्या के प्रत्ययतः संस्कार होता है, उसी प्रकार शोक—परिदेवादि से युक्त स्कन्धों से अविद्या उत्पन्न होती है, यही भवचक्र है ।

स्वयं स्वभावतोऽसिद्धं परंस्तज्जनयेत् कथम् ।
अतोऽसिद्धपरैस्तैर्न जनयेन् प्रत्ययैः परे ॥ १२ ॥

अपि च

अविद्या संस्कार के बिना नहीं होती है, (तथा) उस (अविद्या) के अभाव में संस्कार भी नहीं हुआ करता है । वे दोनों परस्पर (एक दूसरे के) हेतु हैं । इस लिए भी (वे दोनों) स्वभावतः सिद्ध नहीं हैं ॥ ११ ॥

जो (वस्तु) स्वयं स्वभावतः सिद्ध नहीं है, वह 'पर' का उत्पाद कैसे करेगा । अत एव जिनका 'पर' असिद्ध है, वे प्रत्यय पर उत्पादक नहीं होते हैं ॥ १२ ॥

अस्तु खलु संस्कारेषु न स्यादविद्या । अविद्याया अभावे संस्कारा अपि न स्युः । परस्परं हेतुभूतत्वादपि ते स्वभावतोऽसिद्धे ।

यः स्वभावतः स्वयमसिद्धः, सः 'परं' कथं जनयेत् । येषां परत्वम-
सिद्धं ते प्रत्ययाः न परं जनयेयुः ॥ ११-१२ ॥

कदापि अविद्या संस्कार के बिना नहीं हुआ करती है, (तथा) उस अविद्या के अभाव में संस्कार भी नहीं होते हैं । वे दोनों परस्पर हेतुतः (अर्थात् वे दोनों एक दूसरे के हेतुत्व में) उत्पन्न होने से स्वभावतः सिद्ध नहीं हैं । जो (वस्तु या भाव) स्वयं स्वभावतः सिद्ध नहीं हैं, उसके द्वारा 'पर' का उत्पाद कैसे होगा (अर्थात् नहीं हो सकता है) । क्योंकि असिद्ध 'पर' प्रत्यय (तद्) इतर का उत्पादक नहीं हो सकता है ॥ ११-१२ ॥

अपि च

पिता पुत्रो न पुत्रोऽपि पिताऽन्योन्यं न तौ विना ।
तथा न युगपत्तौ हि द्वादशाङ्गं तथैव च ॥ १३ ॥

और भी

जैसे न पिता पुत्र होता है, न पुत्र पिता । वे दोनों एक दूसरे के बिना भी नहीं

होते हैं और युगपद् भी (अर्थात् ये दोनों एक साथ भी) नहीं होते । उसी प्रकार (प्रतीत्यसमुत्पाद के) द्वादशाङ्ग भी हैं ॥ १३ ॥

नास्ति कदाचित् पिता पुत्रः, नापि पुत्रः पिता । नापि तौ अन्योन्यं विना स्याताम् । न च तयोर्यौगपद्यमपि । एवमेव क्रमेण यथा पिता पुत्रश्च असिद्धौ, तथैव प्रतीत्यसमुत्पादस्य द्वादशाङ्गानि (असिद्धानि) ॥ १३ ॥

कभी पिता पुत्र नहीं होता है और न पुत्र पिता । वे दोनों एक दूसरे के अभाव में भी नहीं होते हैं और युगपद् भी नहीं । इस क्रम से जैसे पिता और पुत्र सिद्ध नहीं हो (पाते) हैं, उसी प्रकार द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद को भी (जानना) चाहिये ॥ १३ ॥

अपि च

प्रतीत्य विषयान् स्वप्ने न स्याद् दुःखं सुखं यथा ।
विषयो न तथैवापि तं प्रतीत्य प्रतीत्यजः ॥ १४ ॥

जैसे स्वप्न में विषयों पर आधृत सुख और दुःख (नहीं होते हैं तथा उसके) विषय भी सत् नहीं होते हैं; उसी प्रकार जो (द्वादशाङ्ग) प्रतीत्यसमुत्पाद है, वह भी सत् नहीं है । जो प्रतीत्य उत्पन्न है, वह भी नहीं है और जो प्रतीत्य है, वह भी नहीं है ॥ १४ ॥

स्वप्ने विषयान् प्रतीत्य यथा सुखं दुःखं वा नास्ति; तथैव विषयो-
ऽपि नास्ति, तं प्रतीत्य प्रतीत्यसमुत्पन्नोऽपि नैव ॥ १४ ॥

जैसे स्वप्न के विषयों की अपेक्षा से (उत्पन्न) सुख और दुःख सत् नहीं होते^१ हैं और (उनके) विषय भी सत् नहीं होते हैं, उसी प्रकार जो प्रतीत्यसमुत्पन्न (अर्थात् हेतु सामग्री की अपेक्षा से उत्पन्न फल अविद्या आदि) है, वे और जो प्रतीत्य

१. यहाँ स्वप्न के सुख-दुःख के सत् न होने का अभिप्राय यथार्थ ग्राहक के न होने से है, न कि अभाव । वे सब सत्य न होने पर भी, मिथ्या होने पर भी विषय-विषयी और कार्य-कारणभाव का विनाश नहीं होता है—“कतमःफलाविप्रणाशः ? यदिदं स्वप्नोपमस्य कर्मफलस्याविप्रणाशः । पदत्रिशत नि० सू० समाधिराज० ३९ । पृ० २६६ । मिथिला सं० १६६१ । द्र० ।

(अर्थात् जिस की अपेक्षा की जाती) है, वह भी सत् नहीं होता है [अर्थात् अपेक्ष्य और अपेक्षित दोनों स्वभावतः सत् नहीं है ॥ १४ ॥]

अत्राह

**स्वभावाद्धि न भावाश्चेदुत्तमाधममध्यमाः ।
नानात्वेऽसति हेतुभ्योऽभिनिवृत्तिर्न सिध्यति ॥ १५ ॥**

यहाँ कहते हैं कि

यदि सभी भाव स्वभावतः नहीं हैं, तो हीन, मध्य (सम) और उत्तम (का प्रभेद) नहीं होगा । (अतः उनके अभाव में) नानात्व की सिद्धि भी नहीं होगी और हेतु से (फल की) अभिनिवृत्ति भी नहीं होगी ॥ १५ ॥

अत एव भावाः स्वभावतः न सन्तीति नोचितम् ? ॥ १५ ॥

अतएव सभी भाव स्वभाव से (शून्य) हैं; यह कथन उचित नहीं है ॥ १५ ॥

अत्रोच्यते

**भावाः स्वभावतः सिद्धा नोऽप्रतीत्य प्रतीत्य सत्^१ ।
नि.स्वभावाः कुतो भावाः स्वभावोऽपि नस्थाप्यते ॥ १६ ॥**

यहाँ कहना है

(यदि) स्वभावतः सत् है, तो प्रतीत्य भाव नहीं होगा । अप्रतीत्य भी वह सत् कैसे होगा । (अन्यथा) उसकी निःस्वभावता नहीं बनेगी और स्वभाव की स्थापना भी नहीं की जा सकती ॥ १६ ॥

**यदि स्वभावेन भावाः स्युः, न प्रतीत्य ते भवेयुः । (यदि)
अप्रतीत्यापि भावाः स्युरिति विन्त्यते ? अत्रोच्यते—अप्रतीत्य कुतः ?**

१. “प्रतीत्य स्युः” इत्यपि पाठः । “अप्रतीत्य प्रतीत्य वा” इत्यपि पाठः । अन्यत्र—
“नोऽप्रतीत्य भवन् भावाः न प्रतीत्य स्वभावतः” ल्हासा. सं. पृ. २ ।

‘भावा न भवन्त्यप्रतीत्यः^१ । यद्यप्रतीत्यापि भावाः स्युः ? न स्यात्
तेषां नैःस्वाभाव्यम् । नापि ते स्वभावतः स्थापयितुं शक्येरन् । (अतः)
अभावोऽपि न स्यादित्युक्तं भवति ॥ १६ ॥

यदि सभी भाव स्वभावतः सत् हों, तो (वे) प्रतीत्य (समुत्पन्न) वस्तु नहीं
होंगे । यदि (यह मान भी लें कि) अप्रतीत्य भी (बिना किसी हेतु सामग्री की
अपेक्षा के भी) वस्तु (के रूप) में सम्पन्न होता है ?

इस लिए (तो) कहा गया है कि

‘बिना किसी की अपेक्षा के (भाव) सत् कैसे होगा’ । अप्रतीत्य (अर्थात्
बिना हेतु सामग्री की अपेक्षा के) वस्तु नहीं हुआ करती है । यदि बिना (किसी की)
अपेक्षा के भी (भाव किसी न) किसी रूप में वस्तु बन जाता है, तो उसकी निःस्व-
भावता नहीं बनेगी । सत्स्वभाव की स्थापना तो होती नहीं । (यदि वस्तु सस्वभाव
मानेगे, तो वह खपुष्प के समान सर्वथा असत् होगा; पर वस्तु या भाव) असद्भूत नहीं
है; ऐसा कहा गया है^२ ॥ १६ ॥

अत्राह

स्वभावः, परभावः, भावोऽभाव इतीयं बुद्धिर्न निराश्रया । अत एव
न शून्या भावाः ?

१. यहां—“नोऽप्रतीत्य भवन् भावः” श्लोकांश है ।

२. (क) ‘सब्वमत्थी’ ति खो, कच्चान, अयमेको अन्तो । ‘सब्बे नत्थी’ ति अयं
दुतियो अन्तो । एते, कच्चान, उभो अन्ते अनुपगम्म मज्जेन तथा-
गतो धम्मं देसेति—१२ । १५ । संयुक्त नि० पालि० पृ० १७ । भाग २,
कच्चानसुत्त ।

(ख) कात्यायनाववादे चास्तीति नास्तीति चोभयम् ।

प्रतिसिद्ध भगवता भावाभावविभाविना ॥ १५ ॥ ७ । मध्यमक शास्त्रम् ।

(ग) भाव अभाव विभावयि ज्ञानं

सर्वि अचिन्तय सर्वि अभूतं । इत्यादि ।—समाधिराजसूत्र० ३८ । ११ ।

अत्रोच्यते

स्वभावपरभावौ वा भङ्गोऽभावेऽपि वा कुतः ।
स्वभावपरभावौ चाभावस्तेऽतो विपर्ययाः ॥ १७ ॥

यहाँ कहते हैं

स्वभाव, परभाव, भाव और अभाव इस प्रकार की यह बुद्धि निराश्रय (निर्विषयक) नहीं होती है । अतः सभी भाव (स्वभावतः) शून्य नहीं है ।

यहाँ कहना है

अभाव में स्वभाव और परभाव की स्थापना नहीं की (जा सकती) है । अतः स्वभाव, परभाव और अभाव या भङ्ग (की संज्ञामात्र) विपर्यय हैं ॥ १७ ॥

‘अभावे’ इत्यविद्यमान इत्युक्तं भवति । तस्मिन्नभावे स्वभावः परभावः भङ्गो वेति च कथं भवेयुः ? अतः स्वभावः परभावोऽभावो वेति भावानां स्वभावो विपर्ययः ॥ १७ ॥

‘अभाव में’ जो कहा गया है, (उसका तात्पर्य) अविद्यमान में है । अविद्यमानता में स्वभाव और परभाव अथवा भङ्ग, यह कैसे (सम्भव) होगा । इसलिए स्वभाव, परभाव, भाव और अभाव का स्वभाव (इत्यादि की बुद्धि) विपर्यय है ॥ १७ ॥

अत्राह

शून्यत्वे सति नोत्पादो निरोधोऽपि न विद्यते ।
स्वभावशून्यतायां हि कुतः स्यादुदयव्ययौ ॥ १८ ॥

१. यहाँ बुद्धि की प्रवृत्ति के आधार पर ‘पदार्थ’ या वस्तु के ‘अस्तित्व’ अथवा ‘सत्ता’ का विधान करना, यह बहुत बड़ा प्रश्न है । समस्त वस्तुवादी बुद्धि की प्रवृत्ति को निर्बाध्य वस्तु की सत्ता का प्रमाण मानते हैं । यही मान्यता आगे चल कर एक विकट समस्या का रूप लेती है । बुद्धि को ‘विपर्यय’ सिद्ध करने की दृष्टि से माध्यमिक दर्शन का विकास हुआ, ऐसा प्रतीत होता है ।

यहाँ कहते हैं

यदि (भाव) शून्य है, तो उत्पाद और निरोध नहीं होंगे । (जो वस्तु) स्वभावतः शून्य है, (तो उस) में उत्पाद किसका होगा और किसका निरोध ॥ १८ ॥

यदि भावः स्वभावतः शून्यः, न सम्भवेदुत्पादो निरोधश्च । ननु स्वभावशून्यत्वेऽपि यद्युत्पादनिरोधाविष्येते; स्वभावशून्येऽस्मिन् कस्योत्पाद-निरोधावित्युक्तम् ॥ १८ ॥

यदि भाव स्वभावतः शून्य ही है, तो उत्पाद नहीं होगा और निरोध भी । यदि स्वभावतः शून्य होने पर भी उत्पाद और निरोध मानेंगे, तो कहा गया है कि स्वभावतः शून्य में उत्पाद कहाँ होगा और कहाँ होगा निरोध ॥ १८ ॥

अत्रोच्यते

सर्वधर्मशून्यत्वमेव । कथं कृत्वा ?

अभावेऽसति भावो न भावाभावौ न चैकदा ।

ऋते भावं न चाभावो भावोऽभावः सदा भवेत्^१ ॥ १९ ॥

कहा जाता है कि सभी धर्म मात्र शून्य ही होते हैं ।

वह कैसे ?

भाव और अभाव युगपद नहीं हुआ करते हैं । अभाव के बिना भाव भी नहीं होता है । (अन्यथा) भाव सदा अभाव हो जायेगा । (क्योंकि) अभाव भाव के बिना नहीं हुआ करता है ॥ १९ ॥

१. यहाँ अभाव के बिना भाव न होने का अभिप्राय भाव का अवबोध अभाव के निषेध के बिना नहीं होने से है । जैसे घट का निश्चय घटेतर के व्यावर्तन के बिना नहीं होता है ।

भावाभावौ न युगपद् भवतः । अनेन किमुच्यते ? भावोऽभावश्चोभौ' समकालं न सम्भवतः, अत्रेदमुच्यते । अथ मतं 'भाव एक एव भवतीति मन्यसे ?

अत्रोच्यते

अभावेऽसति भावो न

कथं ? अभावमन्तरा भावो नोपपद्यते । अनित्यतां विना स (भावः) न सद् भवति ।

अपि च

भावोऽभावः सदा भवेत् ॥

(ततस्तु) सदाऽनित्यता च भावः स्यात् । अत्रेत्यं मन्येत, भावस्य अनित्यता तु सदा भावानुबद्धैव । उत्पादकाले स्थितिकाले तु (सा) न व्यापृणोति; अपि च भावस्य भङ्गकाले तु भावं नाशयत्येव ?

अत्रोच्यते

ऋते भावं न चाभावः;

भावं विनाऽभावो न भवति । कथम् ? यतः भङ्गाभावे भङ्ग-लक्षणाऽनित्यता नोपपद्यते । (तथा हि) यदि भङ्गो न स्यात्, तदा नोपपद्यतेऽनित्यता । अतो भावः सदाऽभाव एव स्यात् ॥ १६ ॥

भाव और अभाव युगपत् (एक साथ) नहीं होते ।

इसके द्वारा क्या कहा गया ?

भाव और अभाव दोनों का एक काल में होना सम्भव नहीं है—यह यहाँ कहा गया है । यह मत कि—'भाव एक ही होता है', यदि ऐसा मानते हो, तो कहा जाता है—

अभाव के बिना भाव नहीं होता है ।

कैसे ? अभाव के बिना भाव उपपन्न नहीं है । अनित्यता के बिना (अनित्यता न होने पर) वह (भाव) सत् नहीं होता है ।

और भी,

सदा भाव अभाव होगा^१ ।

सदा भाव (अर्थात् उत्पाद) अनित्यता (अर्थात् भङ्ग) होगा । यदि ऐसा माना जाए कि भाव की अनित्यता सदा भाव से अनुबद्ध (= अनुविद्ध) है ही; तथा वह (अनित्यता) भाव के उत्पादकाल में और स्थिति काल में व्यापार नहीं करती, किन्तु भाव के भङ्गकाल में नियतरूप से भाव का भङ्ग (नाश) करती है तो यहाँ कहा जाता है—

भाव के बिना अभाव नहीं होता ।

भाव के बिना अभाव नहीं होता है; यह कैसे ? भङ्ग नहीं होने पर भङ्गलक्षणा अनित्यता उपपन्न नहीं होगी । यदि भङ्ग न होगा, तो अनित्यता उपपन्न न होगी । (ऐसी स्थिति में) भाव सदा अभावमात्र होगा ॥ १९ ॥

अत्राह

स्यादभावमात्रमेव ?

अत्रोच्यते

न स्वतो नापि परतोऽभावो भावं विना न हि ।

अत एव न भावोऽस्त्यभावो न तदभावतः ॥ २० ॥

यहाँ कहते हैं कि

१. 'सदा भाव अभाव होगा—अभाव यदि भाव का स्वभावगत है, तो भाव स्वभावतः अभाव होने से वह सदा अभाव ही होगा । यदि अभाव, भाव से भिन्न है, तो उसकी विद्यमानता में भाव असत् ही होगा, जैसे घटाभाव के रहते घट की सत्ता विद्यमान नहीं होती ।

एक मात्र अभाव ही हो, (तो क्या दोष है) ?

यहाँ कहा जाता है

भाव के बिना अभाव नहीं होता है; (पर भाव) न तो स्वतः है और न परतः । अतः भाव नहीं होता है और उसके अभाव में अभाव भी नहीं होता है ॥ २० ॥

भावभावेऽभावोऽपि न भवति । स भावोऽपि न स्वतः नापि परतः । अत एव अनया युक्त्याऽसत्त्वादभावो नोत्पद्यत इत्युक्तम् ।

अभावो न तदभावतः

स भावो न स्यात्, तस्य अभावोऽपि न स्यात् । तस्य भावस्य अभावोऽपि न सम्भवतीत्युक्तम् ॥ २० ॥

भाव के बिना अभाव (को सत्ता) नहीं हुआ करता है और भाव भी न तो स्वतः (उत्पन्न) है और न परतः । अतः इन युक्तियों के द्वारा (परीक्षण करने पर भाव की) सत्ता सिद्ध नहीं होती है । इसलिये 'अभाव' अनुत्पन्न (ही) है, ऐसा कहा गया है ।

उसके बिना अभाव (भी) नहीं होता है ।

वह भाव (यदि सत्) नहीं है, तो उसका अभाव भी (सत्) नहीं होता है । अतः उस भाव का अभाव भी सम्भव नहीं होता है; यह कहा गया है ॥ २० ॥

अपि च

सति भावे शाश्वतत्वं व्युच्छेदस्तदभावतः ।

उभयं हि सतो भावाद् भावोऽतो नाभ्युपेयते ॥ २१ ॥

और भी

(यदि) भाव की सत्ता हो, तो (वह) नित्य हो जाएगा और नहीं है, तो उच्छेद । (यदि) भाव सत् है, तो ये दोनों होंगे । अतः भाव^१ स्वीकार नहीं किये जाते हैं ॥ २१ ॥

१. भाव = स्वभावतः सिद्ध भाव ।

द्र०-भावानभावानिति यः प्रजानती, स सर्वभावेषु न जातु सज्जते ।

यः सर्वभावेषु न जातु सज्जते, स अनिमित्त स्पृशते समाधिम् ॥

समाधिराज-सू०-३८११ । पृ० २८१

यतो हि भावे सति शाश्वतत्वं प्रसज्यते, असति च हि प्रसज्यते उच्छेदः । भावस्यैव सत्त्वे तयोः उभयोः प्रसङ्गः । तस्माद् भावो नाभ्युपेयते ॥ २१ ॥

भाव सत् है, तो शाश्वत होने का प्रसङ्ग होता है । यदि भाव की सत्ता नहीं है, तो उच्छेद होने का (प्रसङ्ग) होगा । (इस प्रकार) भाव के सत् होने पर (शाश्वत और उच्छेद) इन दोनों (में से कोई एक) होने का प्रसङ्ग होता है; इसलिये भाव स्वीकार नहीं किये जाते हैं ॥ २१ ॥

अत्राह

सन्तानात्तन्न सन्तानं भावो निर्वर्त्य नश्यति^१ ।

उत्पादभङ्गयोः सन्तानात् शाश्वतोच्छेदौ न स्याताम् । सन्तानं भावोऽभिनिर्वर्त्य निरुध्यते ?

यहाँ कहते हैं

“सन्तति के होने से यह (दोष) नहीं है । सन्तति प्रदान करके (ही) वस्तु निरुद्ध होती है ?”

उत्पाद और भङ्ग की सन्तति (विद्यमान) होने से (वस्तु की सत्ता स्वीकार करने में) शाश्वत और उच्छेद (होने का दोष) नहीं है । क्यों कि सन्तति प्रारम्भ करने के (बाद) ही वस्तु की निवृत्ति होती है ?

अत्रोच्यते

सिध्यतीदं न सन्तानोच्छेददोषश्च पूर्ववत् ॥ २२ ॥

१. द्र०—यस्मात्प्रवर्तते भावस्तेनोच्छेदो न जायते ।

यस्मान्निर्वर्तते भावस्तेन नित्यो न जायते ॥ १०।२५ । चतुःशतकं, पृ० ६० ।

यह ज्ञातव्य है कि यही मत वस्तुवादी बौद्धों की अन्तर्द्वयवर्जित ‘मध्यमा प्रतिपद’ है ।

यहाँ कहना है

पूर्ववत् यह (भी) सिद्ध नहीं होती है और सन्तानोच्छेद होने का भी दोष होता है ॥ २२ ॥

भावाभावावुभौ न युगपत्सम्भवत इत्यस्माभिः पूर्वमेव परीक्षितम्^१ । अतः 'सन्तान'मिति यदभ्युपेतं तदपि पूर्ववन्नैव सिध्यति । अपि च, स्यात्सन्तानोच्छेददोषप्रसङ्गोऽपि ॥ २२ ॥

ऐसी परीक्षा पहले ही की जा चुकी है कि—भाव और अभाव दोनों का युगपद् होना सम्भव नहीं है । इसलिये 'सन्तान' (की सत्ता की) यह प्रतिज्ञा भी पूर्ववत् असिद्ध है । और भी, सन्तान के उच्छेद होने का भी दोष या प्रसङ्ग होगा ॥ २२ ॥

अत्राह

दृष्ट्वा निवृत्तिमार्गोक्तिः^२ शून्यत्वान्नोदयव्ययौ ।

उत्पादव्यययोर्हि दर्शनेन निवृत्तेः पन्था उपदिष्टो न तु शून्यत्वात् ।

अत्रोच्यते

अदोऽन्योन्यविरोधाद्धि विरुद्धानं च दर्शनात्^३ ॥ २३ ॥

यहाँ कहते हैं

१. पुद्गलः सन्ततिः स्कन्धाः प्रत्यया अणवस्तथा । द्र० । २।१३९ लं० सू० पृ० ७९ ।

२. वस्तुवादियों में इस ज्ञान का बड़ा महत्त्व है । जैसे—सम्मसनजाणस्स पर गन्त्वा यं तं सम्मसनजाणानन्तरं,.....उदयव्ययानुपस्सनं वृत्तं, तस्स अधिगमाय योग आरभति....., इस प्रकार दस मार्ग ज्ञानों में से आठवां ज्ञान के रूप में वर्णित है । द्र०—विमु० पृ० १४८३, सं०सं०वि०वि० संस्करण,—१९७२ । भाग—III । प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुलोम और प्रतिलोम का ही दूसरा अर्थ उदय-व्यय है । उदयव्यय का सूक्ष्मतम दर्शन इसी में होता है ।

३. पच्चुप्पन्नानं धम्मानं विपरिणामानुपस्सने पज्जा उदयव्ययानुपस्सनेजाणं ।

द्र०—महावग्गो पृ० १, विसुद्धि०, पृ० ५३१

(भगवान् बुद्ध ने) उदय-व्यय देखकर निर्वाण मार्ग की देशना दी है; न कि शून्य होने से ।

(भगवान् ने) उदय-व्यय (अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद) को देखकर निर्वाण-प्रतिपदा (मार्ग) की देशना दी थी; न कि (धर्मों की निःस्वभावता या) शून्य होने से ?

यहाँ कहना है

परस्पर विपरीत (धर्म) होने से और विपर्यय होने से ही इस उदय-व्यय का दर्शन होता है ॥ २३ ॥

उच्यते, नैतद् (उत्पाद-व्ययदर्शनं) खल्वनुत्पादज्ञानस्य सामर्थ्येन । येन ज्ञानेन 'उदय-व्ययौ' दृष्टौ, तेन व्ययविपरीत उदय दृष्टः, उदयविपरीतश्च व्ययो दृष्टः । उदयव्यययोः परस्परविरोधाज्ज्ञानमपि विरुद्धम् । अतः उदयव्यययोर्दर्शनं भवति ।

यतो ह्युदयं प्रतीत्य व्ययः, व्ययश्च प्रतीत्य उदयः, ततः शून्यतैव (उदयव्ययौ) ॥ २३ ॥

तब तो कहना चाहिये कि यह जो अनुत्पाद का ज्ञान है (वह) उसकी (वास्तविक स्थिति का ज्ञान) नहीं है । अपितु (यह ज्ञान) उत्पाद-भङ्ग का दर्शन है; क्योंकि (संस्कारों के) उत्पाद की निवृत्ति ही (उसके) 'भङ्ग' के (रूप) में दिखलाई देती है और भङ्ग की निवृत्ति उत्पाद (के रूप) में [इसी को उदय-व्यय दर्शन कहा जाता है] ।

उदय और व्यय दोनों परस्पर (स्वभावतः) विरुद्ध होने से तथा (तद् विषयक) ज्ञान के भी (स्वभावतः अन्योन्य) विरुद्ध होने से उदय और व्यय का दर्शन होता है ।

अपि च; क्योंकि उदय की अपेक्षा से व्यय होता है और व्यय की अपेक्षा से उदय । इसलिये भी (भाव) शून्य हैं ॥ २३ ॥

अत्राह

यद्युत्पादननिरोधो न निर्वाणं किन्निरोधतः ।

यदि नोत्पादो न निरोधः, कस्य निरोधेन स्यान्निर्वाणम् ?

अज्ञोच्यते

न निर्वाणमनुत्पादानिरोधो यो स्वभावतः ? ॥ २४ ॥

प्रश्न है कि

यदि उत्पाद और भङ्ग नहीं है, तो निर्वाण किसके निरोध से होता है ?

जब उत्पाद भी नहीं है और भङ्ग भी नहीं है, तो किसके निरुद्ध (अर्थात् किस निरुध्य वस्तु के निरुद्ध) होने से निर्वाण की प्राप्ति होती है ?

उत्तर

जो स्वभावतः अनुत्पाद और अनिरोध होता है; क्या वही मोक्ष (निर्वाण) नहीं है ॥ २४ ॥

यो हि स्वभावतोऽनुत्पाद अनिरोधश्च, स एव न निर्वाणम्^१ ॥ २४ ॥

जो स्वभावतः उत्पन्न नहीं है और निरुद्ध भी नहीं है, क्या वही विमोक्ष नहीं है ? [अर्थात् वही निर्वाण है] ॥ २४ ॥

अपि च

निरोधो यदि निर्वाणं ह्युच्छेदः शाश्वतोऽन्यथा ।

तस्माद् भावो न चाभावोऽन्यनुत्पादानिरोधता^२ ॥ २५ ॥

और भी

यदि निर्वाण (किसी का) निरोध है, तो (उसके) उच्छेद (होने का प्रसङ्ग) होगा और यदि (वह) तदितर है, तो (उसके) शाश्वत (होने का दोष) होगा ।

१. निरोधसत्य के चार आकारों का निर्देश करते हुए भगवान् कहते हैं कि —
अगमनपरमितेयं० असंहार्यं० अक्षयं० अनुत्पत्तिपारमितेयं०—द्र०—अष्टसाह० स्तुतिपरि०—९;
पृ० १०२ । अप्रहीणमसंप्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम् ।.....। द्र०—म० शा० २५।३ ।

२. निवृत्तिधर्माण न अस्ति धर्मा.....। इत्यादि० ९।२६। समाधिराज. सू० ।

अतः (वह निर्वाण) भाव और अभाव (दोनों) नहीं है और (वह) अनुत्पन्नत्व और अनिरुद्धत्व है ॥ २५ ॥

यदि निरोधो निर्वाणम्, तदा उच्छेदः प्रसज्यते । यदा न निरोधः
(निर्वाणं तदा) शाश्वतत्वं प्रसज्यते । अत एव न भावो न चाभावो
निर्वाणम् । याऽनुत्पादानिरोधता सैव हि निर्वाणम्^१ ॥ २५ ॥

यदि निर्वाण (किसी भाव या वृत्ति का) निरोध है, तो (उसके) उच्छेद होने का प्रसङ्ग होगा । यदि (वह) अनिरोध है, तो (उसके) शाश्वत होने का प्रसङ्ग होगा । अत एव 'निर्वाण' (कोई) भाव या अभाव (ऐसा कोई) नहीं है; अपितु (जो) अनुत्पाद और अनिरोध है, वही 'निर्वाण' है ॥ २५ ॥

अत्राह

सदेव निर्वाणम्, तदपि सदा स्थितमिति चेत् ?

अत्रोच्यते

काचित्स्थितिर्हि निर्वाणमभावोऽपि च तद् भवेत् ।

यदि निर्वाणं काचित्स्थितिस्तदाऽभावोऽपि स्यात्; अप्रतीत्यापि
स्यादित्युक्तेः, नैतदपि युज्यते—

अभावेऽपि हि तन्नैवाभावाभावेऽपि तच्च न ॥ २६ ॥

१. (क) अनुत्पत्तिपारमितेयं भगवन्, सर्वधर्मानभिनिर्वृत्तितामुपादाय । द्र०—अष्ट-साह० स्तुतिपरि० ९; पृ० १०२, मिथि० सं० १६६० ।

(ख) अनुत्पत्ति० इति एकानेकहेतुवैधुर्यात् सर्वधर्मानभिनिर्वृत्तितामुपादाय निः-सरणाकारोऽनुत्पत्तिः । द्र०—अभिसमयालङ्कारालोकः—पृ० ४१५ । मिथि० सं० १९६० ।

(ग) न चाभावोऽपि निर्वाणं कुत एवास्य भावना ।
भावाभावपरामर्शक्षयो निर्वाणमुच्यते ॥ द्र०—आर्यरत्नावल्याम् ।

कहते हैं

(निर्वाण) निरोध सत् है; वह भी सदा स्थिर रहता है ?

यहाँ कहना है

यदि निरोध (नामक) कोई स्थिर (वस्तु) हो, तो वह अभाव भी होने लगेगा ।

यदि निरोध (नाम का) कोई (पदार्थ) अवस्थित हो, तो तब (वह) अभाव भी होने लगेगा और अप्रतीत्य (अर्थात् निरपेक्ष) भी, ऐसा कहा गया है । ऐसा (मानना) भी युक्तियुक्त नहीं है । क्यों ?

भाव के अभाव में भी वह सत् नहीं होता है और बिना अभाव के भी वह सत् नहीं होता है ॥ २६ ॥

अभावः अभावाभावश्च द्विधाऽपि नैव निरोधः । कथमिति ?
अभावोऽपि, अभावाभावोऽपि, भावमनपेक्षयापि, अभावमप्यनपेक्ष्ये-
त्युच्यते ॥ २६ ॥

भाव और अभाव दोनों (दृष्टि) से भी 'निरोध' सत् नहीं होता है । (यह) कैसे कहा (जा सकता) है ? भाव के बिना भी और बिना अभाव के भी, तथा भाव की बिना अपेक्षा किये भी और बिना अभाव की अपेक्षा किये भी (वह निरोध सम्भव नहीं है) यह कहा गया है ॥ २६ ॥

लक्ष्यलक्षणयोर्निषेधः—

अत्राह

लक्ष्यलक्षणयोः सम्बन्धात् सन्ति भावाः ? ?

१. प्रत्येक धर्म का असाधारण धर्म होता है, उसे उसका लक्षण माना जाता है—

(क) त्रीणीमानि संस्कृतस्य लक्षणानि—द्र०—प्रसन्नपदा० पृ० ५९ । मिथि सं०—१९६० ।

(ख) “संस्कृतस्य भिक्षवः उत्पादोऽपि प्रज्ञायते”, इत्यादि—सूत्र० (उद्धृत, प्रसन्न० वहीं) ।

(ग) तीणि लक्षणानि—उत्पादलक्षणं, वयलक्षणं, ठितञ्जथत्तलक्षणं । द्र०—पटिसंभ्रिदामग, २।१०।५ । खुद्० भाग—५ ।

(घ) “उदयब्बयं पस्सन्तो पञ्जास लक्षणानि परसति—द्र०—१।१।६२ खुद्०, पृ० ६० । भाग ५ ।

अत्रोच्यते

न स्वतो लक्षणं लक्ष्याल्लक्ष्यं सिध्यति लक्षणात्^१ ।
नाप्यन्योन्यमसिद्धस्यासिद्धो नैव हि साधकः ॥ २७ ॥

यहाँ प्रश्न है

लक्ष्य और लक्षण का सम्बन्ध सत् होने से भाव की सत्ता (सिद्ध) हो जाती है ?

उत्तर

जब लक्ष्य से लक्षण और लक्षण से लक्ष्य की सिद्धि होती है, तो वे स्वतः सिद्ध नहीं हुए। (ऐसी स्थिति में) वे एक दूसरे से सिद्ध नहीं हैं; (क्योंकि स्वयं) असिद्ध (किसी दूसरे) असिद्ध का साधक नहीं हुआ करता है ॥ २७ ॥

लक्षणमपि लक्ष्यात्सिध्यति, लक्ष्यमपि सिध्यति लक्षणात्, न तु स्वतः सिध्यति । उच्यते 'नैकस्मादेकं परस्परमपि सिध्यति' इति । यतो हि एतत्क्रमेण लक्ष्यलक्षणत्वमुभयमप्यसिद्धम् । तस्माल्लक्ष्यलक्षणयोरसिद्धत्वादिमे भावाः न सिध्यन्ति ॥ २७ ॥

लक्षण की सिद्धि लक्ष्य से होती है और लक्ष्य भी लक्षण (की अपेक्षा) से ही सिद्ध होता है; न कि (वे) स्वतः सिद्ध । (पर) कहते हैं कि वे एक दूसरे से भी सिद्ध नहीं हैं । क्योंकि (उक्त) क्रम से लक्ष्य और लक्षण की सिद्धि नहीं होती है । लक्ष्य-लक्षण के सिद्ध न होने से ये (सभा) भाव असिद्ध हैं ॥ २७ ॥

एतेन कारणं कार्यं वेदनावेदकादयः ।
दृश्य-द्रष्टादिकाः सर्वे केऽपि चोक्ता अशेषतः^२ ॥ २८ ॥

इसके द्वारा कार्य-कारण (हेतु-फल) वेद्य-वेदक आदि और दृश्य, द्रष्टादि कोई भी हो, उन सबको (पूर्ण रूप से) व्याख्या हो जाती है ॥ २८ ॥

१. लक्ष्यलक्षणनिर्मुक्तं यदा पश्यति सस्कृतम् । १०।२५५ ; ल० सू०

२. यह श्लोक मूल न होकर 'अन्तर श्लोक' प्रतीत होता है ।

अत्राह

कालद्रष्टारः कालस्य त्रैविध्यं चिन्तयन्ति । अत एव सन् कालः^१ ?

अत्रोच्यते

अस्थितेश्च मिथः सिद्धेः स्वतोऽसिद्धेश्च सम्प्लवात् ।

भावाभावाच्च त्रैकाल्यमसन्मात्रं विकल्पना ॥२६॥

प्रश्न

कालद्रष्टा लोग अनेक प्रकार से काल का चिन्तन करते हैं । अतः काल की सत्ता है ?

उत्तर

अनवस्थित होने से, परस्पर (सापेक्षतया) सिद्ध होने से, (लक्षण) संप्लव होने से, स्वतः सिद्ध न होने से और अभाव होने से तीनों काल की सत्ता नहीं हो सकती । (अतः) यह (काल की सत्ता) कल्पना मात्र है ॥ २९ ॥

कालो न सिद्धः । कस्मात् ? अस्थितेः । कालस्य स्थितिर्नास्तीत्याशयः । यस्य स्थितिर्न भवति, न तद् ग्रहीतुं शक्यते । यस्य नास्ति ग्रहणम् ; तत्कथं प्रज्ञप्येत । अत एव सोऽसिद्धः ।

अन्यच्च, मिथः सिद्धेः । परस्परतः सिद्धः परिकल्प्यते । अतीतं प्रतीत्य वर्तमानानामते सिध्यतः । वर्तमानं प्रतीत्य अतीतानागते सिध्यतः ।

१. (क) इह अतीतानागतप्रत्युत्पन्नास्त्रयः काला भगवता उपदिष्टाः—द्र०—प्रसन्न० पृ० १६३ ।

(ख) कालव्यवस्थानुरूपेण आयुषश्च विकल्पते । द्र०—आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प-२३।३१४ ।

(ग) कालवादी पुगल०—द्र० अङ्गुत्तरनि० पृ० १८९ ।

(घ) अतीतो विद्यते भावो विद्यते च अनागतः ।—द्र०—१०।१८२ ; लं० सू० ।

अनागतं प्रतीत्य वर्तमानमतीतं च सिध्यतः । यतो ह्यपेक्ष्य सिद्धः परिकल्प्यते, तस्मान्न सिद्धः कालः^१ ।

अपि च, स एव वर्तमानप्रज्ञप्त्या वर्तमानम् । अनागतप्रज्ञप्त्या अतीतम् । अतीतप्रज्ञप्त्या चानागतमित्युच्यते । यतो ह्येवं तत्र संप्लवः ; ततः सोऽसिद्धः ।

अन्यच्च; स्वतोऽसिद्धेः । कालोऽयं स्वतोऽपि न सिद्धः । अत एव स असन् ।

अथ च, भावाभावादपि न सन्-‘अस्ति’ । यदि भावः स्यात् सिद्धः, स्यात्ततः कालस्यापि सिद्धिः । न सिध्यति भावः खल्वन्वेषणेन स्वभावतः । तस्मात् कालः स्वभावतोऽसिद्ध एव, (सः) विकल्पमात्र एव ॥ २६ ॥

काल की (सत्ता) सिद्ध नहीं है । क्यों ? अनवस्थित होने से यह माना जाता है कि ‘काल’ की स्थिति नहीं है । जिसकी स्थिति नहीं है, उसका ग्रहण (प्रतीति) नहीं हो सकता है । जो अग्राह्य है, उसका प्रज्ञापन कैसे होगा (अर्थात् नहीं हो सकता है) । अतः काल सत् नहीं है ।

परस्परेण सिद्ध होने से भी (अर्थात् वे) अन्योन्यतः सिद्ध परिकल्पित होने से (भी सत् नहीं है) । जैसे अतीत की अपेक्षा से वर्तमान और अनागत की सिद्धि होती है । वर्तमान की अपेक्षा से अतीत और अनागत सिद्ध होते हैं । (इसी प्रकार) अनागत की अपेक्षा से वर्तमान और अतीत सिद्ध होते हैं । चूँकि (ये परस्पर) एक दूसरे की अपेक्षा से ही सिद्ध प्रज्ञप्त होते हैं; इसलिए काल (की स्वभावगत सत्ता) सिद्ध नहीं है ।

वही (काल) जब वर्तमान को (आधार बनाकर) प्रज्ञप्त होता है, तो (उसे) वर्तमान कहा जाता है । वही (काल, जिसको वर्तमान कहा जाता है) अनागत को

१. काल की निरपेक्षा सत्ता नहीं है—

(क) अध्वत्रयमनघवश्च अवक्तव्यश्च पञ्चमः ।

ज्ञेयमेतद्विबुधानां तार्किकैः सप्रकीर्त्यते ॥ १० । ८५५ । ल० सू० ।

(ख) अतीतं नान्वागमेय्य, नृपटिकह्वे अनागतं ।..... ३३.१ ।

मञ्जिमनि० पृ० २६८ ।

प्रज्ञप्ति से (अर्थात् अनागत की प्रज्ञप्ति के आधार पर) अतीत और अतीत की प्रज्ञप्ति से अनागत हो जाता है। चूँकि इस प्रकार (स्वभाव और लक्षण है, अतः) विप्लव से (काल की) सिद्धि नहीं होती है।

स्वतः सिद्ध न होने से भी। चूँकि यह काल स्वतः सिद्ध नहीं है। अतः (यह) असिद्ध है।

और भी (यह काल) अभाव होने से भी सत् नहीं है। (यदि) भाव सिद्ध हो, तो काल की भी सिद्धि हो जाती, पर परीक्षण (एवं अन्वेषण) करने पर भाव स्वभावतः सिद्ध नहीं है। अतः काल स्वभावतः सिद्ध नहीं है (और वह) कल्पना मात्र है ॥ २९ ॥

अशाह

सर्वे संस्कृता धर्मा उत्पादस्थितिभङ्गलक्षणत्रययुक्ताः। तद्विपरीता असंस्कृता इत्युपदिष्टाः^१। अतः संस्कृता असंस्कृताश्च सन्त्येव ?

अत्रोच्यते

उत्पादस्थितिभङ्गा न त्रयं संस्कृतलक्षणम्।
तस्मान्न विद्यते किञ्चित्संस्कृतं नाप्यसंस्कृतम् ॥ ३० ॥

प्रश्न

संस्कृत (धर्म) उत्पाद, स्थिति और भङ्ग (ये) त्रिविध लक्षणों से युक्त है। इसके विपरीत धर्मों को असंस्कृत कहा गया है। अत एव संस्कृत और असंस्कृत (धर्म) सत् है ?

उत्तर

(यह सत् नहीं है) क्योंकि उत्पाद, स्थिति और भङ्ग संस्कृत (धर्मों के) ये लक्षण असत् हैं। अतः संस्कृत और असंस्कृत कोई भी (धर्म) (स्वभावतः) सत् नहीं है ॥ ३० ॥

१. “द्र०—उत्पादस्थितिभङ्ग इति संस्कृतस्य लक्षणत्रयमुक्तम्” (बुद्धेन)। शून्यता सप्ततिः—पृ०—२७, की टिप्पणी।

उत्पादः स्थितिः भङ्गश्च हि यानि संस्कृतलक्षणान्युपदिष्टाणि, तानि परीक्षणेन नोपपद्यन्ते । असत्त्वात् । कथम् ? तेषामविद्यमानतया । ततः संस्कृतोऽसंस्कृतो वा कोऽपि (धर्मो) नास्ति ? ॥ ३० ॥

उत्पाद, स्थिति और भङ्ग (ये तीनों) जो संस्कृत (धर्म) के लक्षण के रूप में कहे गये हैं, विचार करने पर युक्तियुक्त नहीं है । अतः वह सत् नहीं है । क्योंकि वे (स्वभावतः) असत् हैं । इसलिये संस्कृत और असंस्कृत (धर्म) भी सत् नहीं है ॥ ३० ॥

अपि च

अभ्युपेतस्यापि संस्कृतस्य परीक्षणेन अनुपपन्नोरसत्त्वमित्युक्तम् ।
कस्मात् ?

भग्नो न भज्यतेऽभग्नोऽप्यस्थितस्य न च स्थितिः ।
स्थितस्यापि स्थितिर्नासन् संश्चाप्युत्पद्यते न हि ॥ ३१ ॥

और भी

यदि संस्कृत (धर्म) मान भी लें, पर (वह) असत् इसलिये है कि विचार करने पर (वह) युक्तियुक्त नहीं है । अतः उसे असत् कहा जाता है ।

वह कैसे

जो अभग्न है (उसका) भङ्ग नहीं होता है । (जो) भग्न है, (उसका) भी भङ्ग नहीं होता । (इसी प्रकार) (जो) स्थित है, उसकी स्थिति नहीं होती है । (जो) अस्थित है, (उस) की भी स्थिति नहीं होती । (जो) उत्पन्न है, (उसका) उत्पाद नहीं होता है और (जो) अनुत्पन्न है (उसका भी उत्पाद नहीं होता है ॥ ३१ ॥

१. संस्कृतोऽसंस्कृत सवि विविक्ता, नास्ति विकल्पन तेषामृषीणाम् ।

सर्वगतीषु असंस्कृत प्राप्तः दृष्टिगते हि सदैव विविक्ताः । ३७ । २८ ।

३०-समाधिराज सू० ।

अत्र कश्चिदुत्पन्न उत्पद्यते उताहोऽनुत्पन्नः ? तत्र तावत् उत्पन्नस्य नोत्पादः । कुतः ? उत्पन्नत्वात् । अनुत्पन्नोऽपि नोत्पद्यते, अनुत्पन्नत्वात् ? तस्य उत्पन्नस्य (या) स्थितिः (सा) स्थितस्य, अस्थितस्य वा स्थितिः ?

अत्रापि न स्थितस्य स्थितिः, स्थितत्वात् । अस्थितस्यापि न स्थितिः । कस्मात् ? अस्थितीभूतत्वात् ।

इदानीं भग्नस्य भङ्गः, आहोस्विद् अभग्नीभूतस्य वा ? उभयथाऽपि नोपपद्यते यतः, (अतः) अभ्युपेतस्यापि संस्कृतस्य क्रमेण त्रिविध-परीक्षयाऽनुपपन्नत्वान्नास्ति संस्कृतम् ।

संस्कृतस्यासत्त्वान्न सम्भवत्यसंस्कृतमपि ॥ ३१ ॥

यहाँ किसी उत्पन्न (भाव का) उत्पाद होता है, अथवा अनुत्पन्न (भाव) का ? इनमें से कदाचित् उत्पन्न (वस्तु या भाव) का उत्पाद नहीं होता है; क्योंकि (वह) उत्पन्न है । अनुत्पन्न (वस्तु) का भी उत्पाद नहीं होता है; क्योंकि (वह) अनुत्पन्न है ।

उस उत्पन्न की 'स्थिति' स्थित की है, अथवा वह स्थिति अस्थित की है ? यहाँ भी, स्थित की स्थिति नहीं हो सकती है; क्योंकि वह स्थित है । अस्थित की भी स्थिति नहीं है, क्योंकि वह स्थित नहीं है [अर्थात् अभी उसकी स्थिति प्राप्त नहीं है] ।

अब (तीसरा प्रश्न है कि) भग्न का भङ्ग होता है, या अभग्न का ? (पर), दोनों प्रकार से (वह) उपपन्न नहीं है । क्योंकि संस्कृत (धर्म की) सत्ता मान भी ली जाए, (तो भी) इन तीनों (कोटियों) में क्रमशः अन्वेषण करने पर (वह) उपपन्न नहीं होती है । अतः संस्कृत (धर्म) सत् नहीं है ।

संस्कृत के अभाव में असंस्कृत भी सम्भव नहीं हो सकता ॥ ३१ ॥

१. तुल० — उत्पन्नं उत्पज्जमानं ति ?

भङ्गकवणे उत्पन्नं, नो च उत्पज्जमानं । उत्पादकवणे उत्पन्नं चेव उत्पज्जमानं च ।
उत्पज्जमानं उत्पन्नं ति ? आमन्ता ।

निरुध्यमानं निरुद्धं ति ? नो । १ । १ । ८१, ८ । १ । १ ८२,

यमक — भाग—ii पृ० ४१७—१८ । यह ज्ञातव्य है कि उत्पद्यमान उत्पन्न है, पर निरुध्यमान निरुद्ध नहीं है ।

अन्यच्च

न सन्नासन्न सदसन्नैको नानेक इत्यपि ।
संस्कृतोऽसंस्कृतः सर्वे कोटिष्वास्वेव ते गताः^१ ॥३२॥

संस्कृत और असंस्कृत न तो एक हैं और न अनेक । न तो सत् हैं, न असत् हैं और न सदसत् । इन कोटियों (अर्थात् इन सीमाओं) के अन्तर्गत सभी प्रकार के स्वभाव (या सत्ता) संगृहीत हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

संस्कृतोऽसंस्कृतो वा चायं (धर्मः) प्रत्यवेक्षणेन न एको नाप्यनेकः, न सत् नामत्, न चापि सदसन् । एतास्वेव कोटिषु एतास्वेव अवधिषु ते सर्वे संगृहीताः । सर्वेऽखिलाः संगृहीता इत्युक्तम् । सर्व इत्य-
शेषाः । एतयोरेव सर्वेषामाकाराणां संग्रह इति वेदितव्यम् ॥ ३२ ॥

विचार करने पर ये संस्कृत और असंस्कृत (धर्म) अनेक नहीं हैं और एक भी नहीं हैं । (वे) न सत् हैं, न असत् हैं और न सदसत् । इन कोटियों (इन सीमाओं) के अन्तर्गत अर्थात् इस अवधारणा के अन्तर्गत सभी प्रकार के स्वभाव संगृहीत हो जाते हैं (अर्थात् इनमें) अशेष (यानि) पूर्ण रूप से संगृहीत हैं (यह) कहा गया है ।

इन दोनों (अर्थात् एक-अनेक, सत्-असत् इत्यादि दो पक्ष वाली कोटियों) के द्वारा सभी स्वभाव या आकार संगृहीत है (ऐसा) जानना चाहिये ॥ ३२ ॥

१. यह श्लोक में छन्द नहीं बैठता, पर इसका रूप सर्वत्र यही पाया जाता है—

(क) न सन्नासन्न सदसन् धर्मो निर्वर्तते यदा — १ । ६ । म० शा० ।

(ख) न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।

“चतुष्कोटिविनिमुक्त तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥”

माध्यमक शालिस्तम्ब सू०—९ । पृ० ११५ । महा० संग्रह० भाग I, मिथि० सं—१९६१ ।

अत्राह

अस्ति कर्मस्वकत्वं^१ हि कर्म-कर्मफलं तथा^२ ।
कर्मणोऽविप्रणाशश्च^३ दिदेश भगवान् गुरुः^४ ॥ ३३ ॥

प्रश्न

भगवान् गुरु ने कर्म (के स्वभाव) और कर्म फल की (स्थिति की) देशना दी है । सभी सत्त्वों (अर्थात् जीव मात्र) के कर्मों के स्वकत्व और कर्म के अविप्रणाश की भी देशना दी है ॥ ३३ ॥

सूत्रेषु प्रोक्तवान् भगवान्, 'अस्ति.कर्म', 'अस्ति कर्मफलमि'त्य-
नेकशः । कर्म निष्फलं नास्तीत्यपि देशितवान् । कर्मणामविप्रणाशः,
कर्मस्वकाः सत्त्वाश्चेत्यपि चोपदिदेश । अत एव कर्म कर्मफलञ्च
सदेव ॥ ३३ ॥

भगवान् (बुद्ध) ने सूत्रों में कर्म और कर्म फल की भी अनेकविध देशनाएँ
दी हैं और सभी कर्म (अर्थात् कोई भी कर्म) निष्फल नहीं होता है, (ऐसा) भी
कहा है ।

कर्मों का विप्रणाश नहीं होता है और सत्त्व कर्मस्वक (अर्थात् कर्म ही उनका
अपना हैं—ऐसे) है—ऐसा भी कहा है । अतः कर्म और कर्म फल सत् हैं । ३३ ॥

१. कतमो च भिक्खवे, संसप्पनीयपरियायो धम्मपरियायो ? कम्मस्सका, भिक्खवे,
सत्ता कम्मदायादा कम्मयोनी कम्मबन्धू कम्मपटिसरणा, १०।२१।६-पृ० ३३८,
अङ्गुत्तरनि० ।

२. चत्तारिमानि, भिक्खवे, कम्मनि.....। अत्थि, भिक्खवे, कम्मं कण्हं कण्ह-
विपाकं;—कम्मवग्गो० ४।२४।१. अङ्गु० पृ० २४५ ।

३. अविप्रणाशः फलधर्मदर्शनं—समाधिराजसू०—१७।५९। पृ० ११२

४. कर्म एव सत्त्वानां विभजते लोकवंचित्यम् :—मञ्जुश्रीमूलकल्प, सर्वकर्मस्वक०
पटल०—१७ पृ० १२८ ।

अशोच्यते

अनिरुद्धमनुत्पन्नं कर्मोक्तं निःस्वभावकम् ।
आत्मग्रहाद्वि तज्जातं जनकोऽपि विकल्पतः ॥ ३४ ॥

उत्तर

चूँकि कर्मों की निःस्वभावता का प्रतिपादन किया जा चुका है; अतः वह अनुत्पन्न है (यह सिद्ध होता है) । (अनुत्पन्न) होने से उसका भङ्ग भी नहीं है । वह (= कर्म) आत्मग्रह (दृष्टि) से उत्पन्न है और उसका उत्पादक आत्मग्रह (दृष्टि) भी विकल्पों से ही (उत्पन्न) है ॥ ३४ ॥

यतः प्रोक्तं कर्म निःस्वभावम्; तस्मात्तस्यानुत्पन्नत्वादनिरुद्धम् ।
अपि च, 'आत्मग्रहभवं' (तदात्मग्रहेण उत्पन्नम्) कर्म तस्मात्तदात्मग्रह-
जन्यम् । सोऽपि (आत्मग्रहः) विकल्पतः सम्भवति ॥ ३४ ॥

क्योंकि कर्म की निःस्वभावता निरूपित की जा चुकी है, इसलिये उसका उत्पाद नहीं है और (उत्पाद के) अभाव में भङ्ग भी नहीं होगा ।

अपि च, वह (कर्म) आत्मग्रह (दृष्टि) से उत्पन्न है । इसलिये 'कर्म' आत्मग्रह (दृष्टि) से उत्पन्न (फल) है और वह आत्मग्राहिका (दृष्टि) भी विकल्प-
नाओं से उत्पन्न है ॥ ३४ ॥

अपि च

यदि स्वभावतः कर्म तज्जः कायोऽपि शाश्वतः ।

यदि कर्म सस्वभावं स्यात्, तथा सति तत्कर्मजनितो यः कायः,
स स्यान्नित्यः । (अतः) स्यात् शाश्वतः^१ इत्युक्तम् ।

१. कर्म की स्वभाव सत्ता मानने पर काय अर्थात् शरीर के नित्य होने का दोष इसलिये उपस्थित होता है कि—अव्यवहित कारण की उपस्थिति में कार्य का व्यावर्तन सम्भव नहीं । आत्मग्रहभवं ह्यात्मग्रहो जनको विकल्पनात् ।

अपि च

विपाकदुःखवन्न स्यात्,

तत्कर्म दुःखविपाकवदपि न भवेत् ।

अपि च

स्यादात्मैवापि कर्म च ॥ ३५ ॥

यस्मात् कर्म नित्यम्, तस्मात्तदात्मैव स्यात् । यदनित्यं तद्दुःखम् ।
यद्दुःखं तदनात्मकम् । अत एव अनुत्पन्नं कर्म निःस्वभावम् । अनुत्पन्न-
त्वाच्चाविप्रणष्टम् ॥ ३५ ॥

और भी

यदि कर्म स्वभावतः सत् है, तो उससे उत्पन्न काय (शरीर आदि) के नित्य
(होने का प्रसङ्ग) होगा ।

यदि 'कर्म' सस्वभाव हो, तो उससे उत्पन्न जो शरीर आदि है, वह तत्त्वतः सत्
होने लगेगा (और वह) शाश्वत हो जायगा, ऐसा कहा गया है ।

अपि च

(कर्म) दुःखविपाकवान् (भी) नहीं होगा ।

(अर्थात्) वे कर्म दुःख से युक्त विपाक वाले भी नहीं होंगे ।

अपि च

इसलिये कर्म के आत्मा (होने का भी दोष) होगा ।¹

१. यहाँ कर्म के आत्मा होने का तात्पर्य—“यदि कर्म स्वभावतः अविप्रणष्ट है, तो उसके आधारभूत तत्त्व यानि कर्म के अधिष्ठान आत्मतत्त्व की सत्ता मानना पड़ेगा । अन्यथा क्षणिक एवं नश्वर अधिष्ठान पर अधिष्ठित कर्म की नश्वरता का प्रसङ्ग दुर्वाच्य है ।”

चूँकि कर्म नित्य है; अतः उसके आत्मा होने का भी (प्रसङ्ग) होगा । जो अनित्य होता है, वह दुःख होता है । इसलिये जो दुःख है, वह अनात्मा है ।

पर कर्म निःस्वभाव है, इसलिये (उनका) उत्पाद नहीं होता है । जो अनुत्पन्न है, (उसका) विप्रणाश नहीं होता है ॥ ३५ ॥

अपि च

कर्म प्रत्ययजं किञ्चिन्नास्त्यप्रत्ययजं न च ।

नास्ति कर्म प्रत्ययजनितमपि; किञ्चिदप्रत्ययजनितमपि च नास्ति ।
कस्मात् ?

मायावत्सर्वसंस्काराः गन्धभुक्पुर्मरीचिवत् ॥ ३६ ॥

यतो हि सर्वे संस्कारा माया-मरीचिन-गन्धर्वनगरसदृशाः, तस्मा-
न्नास्ति कर्म स्वभावतः ॥ ३६ ॥

और भी

प्रत्यय जनित कोई कर्म नहीं है और न अप्रत्यय जनित ही है ।

कर्म प्रत्ययों से भी उत्पन्न नहीं है और कोई (कर्म) अप्रत्ययतः उत्पन्न भी नहीं है । (इसलिये वह) नहीं है ।

कैसे नहीं है ?

सभी संस्कार माया, मृगमरीचि और गन्धर्वनगर के समान (असत्)
हैं ॥ ३६ ॥

चूँकि सभी संस्कार गन्धर्वनगर, माया और मृगमरीचि के समान (मिथ्या
और असत् हैं । अतः कर्म (भी) स्वभावतः सत् नहीं है ॥ ३६ ॥

अपि च

क्लेशकारणकं कर्म संस्काराः क्लेशकर्मतः ।

कर्महेतुश्च कायोऽपि^१ त्रयं शून्यं स्वभावतः ॥ ३७ ॥

और भी

कर्म क्लेशहेतुक है और संस्कार कर्म और क्लेश से प्रजनित हैं । इसी प्रकार काय (भी) कर्महेतुक है । (अतः) तीनों स्वभावतः शून्य हैं ॥ ३७ ॥

यतः कर्म क्लेशनिमित्तरूपत्वनम्, यतः संस्काराः क्लेशकर्ममि-
रूपत्वाः, यतः कायोऽपि कर्महेतुत उत्पन्नः, तत एतत्त्रयं स्वभावतः शून्यम् ॥

क्योंकि कर्म क्लेश हेतुओं से उत्पन्न है और (कर्म का स्वभाव) संस्कारों का उत्पाद (भी) कर्म और क्लेश हेतुओं से होता है । चूँकि 'काय' कर्म हेतु से उत्पन्न है । अतः वे तीनों स्वभावतः शून्य हैं ॥ ३७ ॥

सतीत्यम्

कर्मण्यसति कर्ता न द्वयाभावे न तत्फलम् ।

तदभावे न भोक्ता स्यादसत्त्वाच्च विविक्तता ॥ ३८ ॥

यदि ऐसा है, तो

कर्म के अभाव में कर्ता नहीं हो सकता; उन दोनों के अभाव में फल नहीं होगा । उस (फल) के बिना भोक्ता (भी) नहीं हो सकता । (अतः मात्र) विविक्त (शून्य) ही रह जायगा ॥ ३८ ॥

१. सभी कर्म क्लेश अर्थात् अविद्या एवं तृष्णा से उत्पन्न होते हैं । कर्म और क्लेश के द्वारा जन्म अर्थात् नाम रूपादि से सम्पुञ्जित शरीर का उत्पाद होता है । शरीर या स्कन्ध के ग्राहक विकल्प के द्वारा पुनः अहंकार-ममकार आदि सत्काय दृष्टि एवं अविद्या का प्रचलन होने लगता है, जैसे—

स्कन्धग्राहो यावदस्ति तावदेवाहमिदमपि ।

अहंकारे सति पुनः कर्म जन्म ततः पुनः ॥ १।३५। (द्र०—रत्नावली)

इत्थं नास्ति कर्म, युक्तिः परीक्षणेनापि फलस्य निःस्वभावत्वात् कर्मण्यसति कर्ताऽपि सन्न । असति च कर्मणां कर्तरि फलमपि न भवेत् । तदभावाच्च भोक्ता न स्यात् । अतो विविक्तैव (भावानाम्) ॥ ३८ ॥

इस प्रकार युक्ति द्वारा परीक्षा करने पर यदि फल स्वभावतः सत् नहीं है, तो (उसका हेतुभूत) कर्म (भी) नहीं होगा । कर्म के अभाव में कर्ता भी सत् नहीं हो सकता है । कर्म का (यदि) कर्ता न हो, तो (पुनः) फल सत् नहीं होगा । इसके बिना भोक्ता भी नहीं हो सकता । अतः (मात्र शून्य) विविक्त ही रह जाता है ॥ ३८ ॥

अन्यच्च

योऽपश्यत्कर्मशून्यत्वं सम्यग्ज्ञानेन कम न ।

कर्मण्यसति कर्मभ्यः समुत्पन्ना न सन्ति वै ॥ ३९ ॥

यदि लोग कर्म की शून्यता को सम्यग् रूप से देख लें (अर्थात्) जान लें, तो (उससे) कर्म का उत्पाद नहीं होगा । कर्म के न होने से जो कर्म प्रसूत (कायादि) हैं, (वह भी) नहीं होंगे ॥ ३९ ॥

तत्त्वदर्शनेन कर्मणां स्वभावशून्यतायाः सम्यग्ज्ञाने सति कर्माणि न सम्भवेयुः । कर्मणामभावे ये कर्मभ्यः सम्भूताः, तेऽपि न सम्भवन्ति ॥

(यदि) कर्म की स्वभावशून्यता का सम्यग् रूप से ज्ञान हो जाता है, तो उस तत्त्व दर्शन के कारण कर्म का उत्पाद नहीं होगा । कर्म के न होने पर उस कर्म से (उत्पन्न) होने वाले (सभी फल) नहीं होंगे ॥ ३९ ॥

अत्राह

किमिदानीमभावमाश्रमुतास्ति यत्किञ्चित् ?

अत्रोच्यते

अस्तीति । कथन्तत् ?

निर्मिमीते यथा ऋद्ध्या भगवांश्च तथागतः ।
तेन निर्मितकेनापि ह्यन्यो निर्मीयते पुनः^१ ॥ ४० ॥

प्रश्न है कि

तब क्या (सब कुछ) अभावमात्र है, या किञ्चित् सत् भी है ?

उत्तर

सत् (भी) है । यदि है, तो वह कैसे ?

जैसे भगवान् तथागत हैं, उन्होंने (अपने) ऋद्धि (बल) से एक निर्मितक का निर्माण किया हो; उस निर्मितक ने भी पुनः अन्य निर्मितक का निर्माण किया हो ॥ ४० ॥

बुद्धनिर्मितकः शून्यः का तन्निर्मितके कथा ।
यत्किञ्चित्कल्पनामात्रसत्त्वं तच्चोभयोस्तथा^२ ॥ ४१ ॥

उसमें से तथागत का निर्मितक (अर्थात् तथागत द्वारा निर्मित निर्मितक) स्वभावतः शून्य है; तो निर्मितक द्वारा निर्मित (निर्मितक) का तो कहना ही क्या है । (तथापि) कल्पनामात्र में जो कुछ सत् है (अर्थात् कल्पनामात्र में जो कुछ अस्तित्व है) वैसे ही वे दोनों (निर्मितक) होते हैं ॥ ४१ ॥

कर्ता निर्मितकेनेव कर्म निर्मितसदृशम् ।
शून्यं स्वभावतो यत्सत् कल्पनामात्रमेव तत् ॥ ४२ ॥

१. तुलना०—

यथा निर्मितकं शास्ता निर्मिमीतद्विसम्पदा ।

निर्मितो निर्मिमीतान्यं स च निर्मितकः पुनः ॥

(द्र० म० श० १७।३१)

२. वस्तु की सत्ता केवल परिकल्पितमात्र है । परिकल्पित एवं प्रातिभासिकसत्ता के आधार पर ही उनका अर्थक्रियाकारित्व परिलक्षित होता है । प्रतीयमान रूपादि की सत्ता एक निर्मितक एवं उसके क्रियाकलापों की सत्ता से अधिक नहीं है ।

इसी प्रकार 'कर्ता' निर्मितक के समान है और 'कर्म' निर्मितक द्वारा निर्मित के समान । स्वभावतः शून्य होते हुए भी कल्पनामात्र में यत्किञ्चित् सत् है (वह) है ॥ ४२ ॥

यथा स भगवान् तथागतः ऋद्ध्या निर्मितकमभिनिर्मिमीते,
तेन निर्मितकेनाप्यन्यो निर्मितको निर्मायते । तथैव कर्मापि वेदितव्यम् ।

तत्र यदि तेन तथागतेन निर्मितकः स्वभावतः शून्यस्तर्हि निर्मित-
कनिर्मितस्यान्यस्य तु कथैव का । यथा यत्किञ्चित्कल्पनामात्रसत्त्वं तदेव
तद्द्वयोरपि । तथैव च कर्मापि ॥ ४०-४१-४२ ॥

जैसे भगवान् तथागत ने ऋद्धि (बल) से एक निर्मितक का निर्माण किया
और पुनः उस निर्मितक ने भी अन्य एक और निर्मितक का निर्माण किया हो, उसी
प्रकार कर्म (के स्वरूप) का भी अवगाहन करना चाहिये ।

उनमें से जब तथागत द्वारा निर्मित निर्मितक भी स्वभावतः शून्य है, तो
निर्मितक द्वारा निर्मित अन्य (निर्मितक आदि) का तो कहना ही क्या है । जैसे
कल्पनामात्र में यत्किञ्चित् सत् (अस्तित्व) है; वह उन दोनों में भी है । कर्म भी
उसी प्रकार है ॥ ४०-४१-४२ ॥

अपि च

कर्मकर्ता न निर्वाणं यदि कर्म स्वभावतः ।

इष्टानिष्टफलं न स्यात्तद्भावो यदि नास्ति वै ? ॥४३॥

यदि कर्म स्वभावतः है, तो निर्वाण (नहीं होगा) और कर्म का कर्ता (भी)
नहीं होगा । यदि (वह भी) नहीं हैं, तो कर्मजनित इष्टानिष्ट (आदि) फल भी
नहीं होंगे ॥ ४३ ॥

१. द्र०—यदि कर्म स्वतः सत् हो, अशून्य हो, तो संसार और निर्वाण की
प्रवृत्ति और निवृत्ति के उच्छेद का प्रसङ्ग होगा;—जैसे—

यद्यन्यून्यमिदं सर्वमुदयो नास्ति न व्ययः ।

प्रहाणाद्वा निरोद्धाद्वा कस्य निर्वाणमिष्यते ॥ २१।२। म० शा० ।

यदि कर्म स्वभावतः स्यात्तर्हि स्वभावसिद्धे कर्मणि सति न भवेन्निर्वाणम् ।

अपि च, कर्मणां कर्ताऽपि न स्यात् । कस्मात् ? कर्तारं विनैव कर्मणः प्रसिद्धत्वात् । यदि कर्म (सर्वथा) नास्ति स्वभावतः, तदा तज्जनितं यदिष्टानिष्टफलं तदपि न सम्भवेत् ॥ ४३ ॥

यदि कर्म स्वभावतः है, तो कर्म के स्वभावतः सिद्ध होने पर निर्वाण (भी) नहीं हो सकता है ।

(इतना ही नहीं) कर्म का कर्ता भी नहीं होगा । क्यों ? इसलिये कि कर्ता के बिना भी कर्म स्वभावतः सिद्ध है । यदि कर्म स्वभावतः नहीं है, तो कर्मजनित जो इष्ट और अनिष्ट फल है, वह भी नहीं होगा ॥ ४३ ॥

अत्राह

सूत्रेषु 'अस्ती'ति विस्तरेण प्रज्ञपितम् । तत्किम् 'नास्ती'ति स्यात् ?

अत्रोच्यते

सच्चाप्यस्ति ह्यसच्चापि सदसच्चापि विद्यते ।

सुगमा न हि बुद्धानामभिप्रायिकदेशना ॥ ४४ ॥

प्रश्न है

सूत्रों में 'अस्ति' ऐसा सविस्तर से कहा गया है, तो वह 'नास्ति' कैसे हो जायगा ?

उत्तर

सूत्रों में (अर्थात् बुद्ध वचनों में, तो) अस्ति भी, नास्ति भी और सदसत् (अस्तिनास्ति) भी कहा हुआ है । (इस प्रकार) बुद्ध ने (जो) अभिप्रायिकी देशनाएं दी हैं; वह (साधारण लोगों के लिये) सुगम नहीं हैं ॥ ४४ ॥

अस्तीति यद्देशितम्^१ तदपि प्रज्ञप्तिः सत् । नास्तीति च यद्देशितम्, तदपि सत्प्रज्ञप्ति एव । सदसच्चापि यत्, तदपि प्रज्ञप्तिमात्रमेव । अत एव बुद्धानामभिप्रायिक्यो देशनाः, न सर्वथा सुगमाः ॥ ४४ ॥

(सूत्रों में) 'अस्ति' जो कहा गया है; वह प्रज्ञप्ति के रूप में है । 'नास्ति' जो कहा गया है; वह भी प्रज्ञप्तिः है । जो 'सदसत्' कहा गया है, वह भी मात्र प्रज्ञप्त है । (अतः) बुद्ध ने जो (इस प्रकार की) अभिप्रायिकी देशनाएं दी हैं; वे सब (सबके लिये) सर्वथा सुगम नहीं हैं । ४४ ॥

अत्राह

इह खलु 'रूपं' भूतेभ्यो जातमितीष्यते, (अतः) तद् अस्त्येव । अवशिष्टा अरूपिधर्मा अपि सन्ति यथायोग्याः ?

अत्रोच्यते

रूपं चेद् भूततो जातं तद्रूपं स्यादतत्त्वतः ।
स्वभावान्न हि तन्नापि परतस्तदभावतः ॥ ४५ ॥

प्रश्न है

यहाँ रूप को भीतिक ही माना गया है; (तो वह) सत् है । अवशेष अरूपी धर्मों को भी यथायोग्य सत् हैं (ऐसा जानना चाहिये) ?

यहाँ कहना है

यदि 'रूप' (महा) भूतों से उत्पन्न हैं, तो 'रूप का उत्पाद' अतत्त्वतः हो जायगा । न कि स्वभावतः । उस (स्वभावतः उत्पाद) के अभाव में परतः (भी उसका उत्पाद) नहीं होगा ॥ ४५ ॥

१. सूत्रों में सत्त्व, पुद्गल, स्कन्ध, आयतन, धातु आदि के अस्तित्व या सत्ता की देशना दी गई है, वह सोद्देश्य और आभिप्रायिक है, वह नेपथ्यक है । जहाँ शून्यता की देशना दी गई है, वह नीतार्थक है, जैसे—

(क) "नीतार्थसूत्रान्तविशेष जानति ।".....चन्द्रप्रदीपसू०—७।५ ।

(ख) अक्षयमतिषू०—पृ० १५० । भोटकन्यगुर सं० 'म' पुटे ।

यदि रूपं भूतेभ्यः समुत्पन्नमिष्यते, तर्हि रूपोत्पादः स्याद् अतत्त्वतः ।
अतत्त्वतश्चेति न स्वतः इत्युच्येत । एवमेव न रूपं स्वभावतः ।

अत्राह, तत्तथैव । न स्वतः, (अपितु) परतः, भूतानां ततः
परत्वात् ?

तत आह

“स्वभावान्न हि तन्नापि परतस्तदभावतः ।”

कुत. इति चेत् ? तदभावात् तत्पराभावः । कथम् ? एवं ‘स्वभावेना-
सिद्धत्वात्तत्परतः’ इत्यपि न युज्यते । अभावस्य तत्परत्वं न युक्तम् ।
अभावादपि न परत्वम् ।

पुनश्च, तेषां महाभूतानामसत्त्वात् । यद्यत्र महाभूतानि लक्षणतः
सिद्धानीति मन्येरन्, तान्यपि लक्षणानि भूतेभ्यः पूर्वं सिद्धानीति न
युज्यन्ते । तदसिद्धत्वाद् भूतान्यपि न सिध्यन्ति ॥ ४५ ॥

यदि ‘रूप’ को (महा) भूतों से उत्पन्न मानेंगे, तो इस प्रकार से ‘रूप का
उत्पाद’ अतत्त्वतः हो जायगा । अतत्त्वतः (से तात्पर्य यहाँ) अनात्मतः (अस्वभावतः)
है, यह कहा गया है । इस प्रकार रूप स्वभावतः (सिद्ध) नहीं है ।

यहाँ प्रश्न है; यह ठीक है कि (रूप) स्वभावतः (उत्पन्न) नहीं है । (परन्तु
वह) परतः (उत्पन्न) है । (क्यों कि महा) भूत उसके पर है (अर्थात् उससे
पर हैं) ?

उत्तर

“उसके अभाव में परतः (भी) नहीं है; (अर्थात्) वह ‘रूप’ परतः भी
(उत्पन्न) नहीं है ।” क्यों ?

१. यस्य स्वभाव न विद्यति कश्चि,

नोऽपरभावतु केनचि लब्धः ।

(द्र० आर्यरत्नाकरमहायानसूत्रे—उद्धृत—प्रसन्न० पृ० १०६)

उसके न होने से, अर्थात् पर के न होने से। कैसे? चूँकि स्वभावतः सिद्ध न होने से 'परतः' यह कहना उपपन्न नहीं होगा। (क्यों कि) असत् को उससे 'परतः' कहना युक्त नहीं है, (अर्थात्) असत् (को) उससे 'पर' नहीं कहा जा सकता।

अपि च, वे (महा) भूत (स्वयं) सत् न होने से, (तथा हि) यहाँ (यदि) लक्षणतः (महा) भूतों की सत्ता मानेंगे, तो लक्षण भी (महा) भूतों से पूर्व में ही होंगे (और यह) संगत नहीं है। उनकी (लक्षणों की) असिद्धि से लक्ष्य (महा) भूतों की भी सिद्धि नहीं हो सकती हैं ॥ ४५ ॥

एकस्मिन्न चतुःसखं सन्नैकं हि चतुर्ष्वपि ।

असच्चतुर्महाभूतापेक्षं रूपं क्व सिध्यति ॥ ४६ ॥

न एक में चार हैं, और न चार में एक होता है। (तब) चार असत् महाभूतों की अपेक्षा से रूप का उत्पाद कैसे होगा?

यतः चतुर्षु^१ नास्त्येकम्, न सन्ति एकस्मिंश्च चत्वार्यपि; अत एवाभूतानि चत्वारि महाभूतानि प्रतीत्य रूपं कथं सिध्येत्। 'असत्' इति सतोऽभाव इत्युक्तम् ॥ ४६ ॥

अत एव चार में भी एक नहीं है और एक में भी चार नहीं हैं। इसलिये असत् चार महाभूतों की अपेक्षा से रूप की सिद्धि कैसे होगी। असत् का तात्पर्य 'अविद्यमान' कहा गया है ॥ ४६ ॥

अपि च

लिङ्गादिति न तल्लिङ्गमत्यन्ताग्रहणान्ननु ।

हेतुप्रत्ययजं सखे न लिङ्गं नेति युज्यते^१ ॥ ४७ ॥

१. पृथ्वी आदि महाभूत साक्षाद् ग्राह्य न भी हों, पर उससे अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाले रूप शब्दादि लिङ्ग के आधार पर उनका बोध हो जाता है और रूपादि लिङ्ग प्रत्यक्षग्राह्य होते हैं।

यह भी युक्त नहीं है, लिङ्ग रूपादि अत्यन्त अग्राह्य हैं।

अत्यन्त (रूप से) अग्राह्य होने से; यदि लिङ्गतः (ग्राह्य) मानेंगे, तो वह लिङ्ग (भी) सत् नहीं है; क्योंकि (वह) हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न हैं। यदि (रूप) सत् है, तो भी लिङ्ग के बिना (उसकी) सत्ता युक्त नहीं होगी ॥ ४७ ॥

अत्यन्तमग्रहणान्न रूपस्य सत्त्वम् । कथं कृत्वा ? अत्यन्ताग्रहणात् रूपस्यागृहीतत्वम् । यस्मिन् ग्रहणासम्भवः, स्यात् तत्कथं सदिति ।

यदि मन्येत लिङ्गादिति ? तल्लिङ्गे 'इदं रूपम्' इति रूपविषयिण्यां बुद्धौ सत्यां सिध्यति रूपम् । यतो ह्यर्थमन्तरेण सा न प्रवर्तते बुद्धिः, ततः लिङ्गबुद्धेः रूपं सिध्यतीति मतम् ?

अगोच्यते

“लिङ्गादिति न तल्लिङ्गम्”

न तल्लिङ्गम् अर्थाद् अविद्यमानम् । कस्मात् ?

“हेतुप्रत्ययजमिति ।”

यतो हि सा लिङ्गबुद्धिः हेतुप्रत्ययजनिता; तस्मात् सा (स्वभावतः) नास्ति ।

अपि च, सत्त्वेऽपि

‘नलिङ्गं नेति युज्यते ।’

यदि तत् रूपं भवेत्, तथापि रूपसत्त्वे यल्लिङ्गं तन्नास्तीति न युज्यते, लिङ्गाभावस्तु न युक्तः (इत्यर्थः) ॥ ४७ ॥

अत्यन्त (रूप से) अग्राह्य होने से रूप की सत्ता नहीं है। क्यों ? अत्यन्त अग्राह्य होने से; अर्थात् वह (रूप) अत्यन्त रूप से अग्राह्य है। जिसमें ग्राह्यता सिद्ध नहीं है, उसको सत् कैसे कहा जा सकता है ?

(यदि) यहाँ यह मान लें कि लिङ्ग (के माध्यम) से (रूप सत् है) । इसका लिङ्ग ‘यह रूप है’ ऐसी (रूपग्राहिणी) बुद्धि है, तो (उससे) यह रूप सिद्ध हो

जायगा । क्योंकि अर्थ के बिना बुद्धि प्रवृत्त नहीं होती है । इसलिये (यदि) लिङ्ग-बुद्धि से रूपकी सत्ता मान लें, तो क्या दोष है ?

यहाँ कहा गया है

“यदि लिङ्गतः (ग्राह्य) मानेंगे, तो वह लिङ्ग भी नहीं है ।” वह लिङ्ग सत् नहीं है; अर्थात् (वह) अविद्यमान है । क्यों ?

“(वह) हेतु प्रत्यों से उत्पन्न है ।”

क्योंकि वह लिङ्गबुद्धि तो हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न है । इसलिये वह (स्वभावतः) असत् है ।

अपि च

यदि (रूप) सत् है, तो भी लिङ्ग के बिना उसकी सत्ता युक्त नहीं होगी ।

यदि वह रूप सत् हो, तो उसकी सत्ता होने की युक्तियाँ (कारणों) का न होना भी संगत नहीं हैं; (अर्थात् यदि रूप सत् हो, तो उसका साधक) लिङ्ग का अभाव युक्त नहीं है ॥ ४७ ॥

अपि च

रूपस्य ग्रहणं चेत् स्यात्स्वस्वभावग्रहो भवेत् ।

असन्निमित्ताया बुद्ध्या ह्यसद्विरूपग्रहः कथम् ॥ ४८ ॥

यदि रूप का ग्रहण होगा, तो स्वात्मा का ही ग्रहण होने लगेगा । असत्प्रत्ययों से उत्पन्न बुद्धि द्वारा असत् रूप का ग्रहण कैसे होगा ॥ ४८ ॥

यदि रूपस्य ग्रहणं स्यात्, एवं सति तदात्मस्वरूपमेव स्यात्; ‘स्वात्मानमेव गृहीयाद्’ इत्युच्यते । नैतदपि दृश्यते । अत एव तं गृह्णाति । यतः सा बुद्धिः स्वभावतः शून्या तस्मादसत्या प्रत्ययजनितया बुद्ध्याऽसतो रूपस्य ग्रहणं कथं भवेत् ॥ ४८ ॥

यदि ऐसा हो कि (बुद्धि द्वारा) रूप का ग्रहण हो जाता हो, तो (वह) आत्मस्वभावमात्र का यथावत् (ग्रहण) हो जायगा, अर्थात् ‘स्वात्मा का ही ग्रहण

होने लगेगा, यह कहा गया है। पर ऐसा भी नहीं देखा जाता। क्योंकि उसी के द्वारा उसी का ग्रहण नहीं हुआ करता है। वह बुद्धि (भी) स्वभावतः शून्य है। अतः असत् प्रत्ययों से जनित उस बुद्धि के द्वारा असत् 'रूप' का ग्रहण कैसे होगा ? (अर्थात् नहीं होगा) ॥ ४८ ॥

अत्राह

सूत्रेषु अतीतानागतरूपाणां ग्रहणं बहुशो देशितम्^१ । अत एव भवत्येव रूपस्य ग्रहणम् ?

अत्रोच्यते

बुद्ध्या क्षणिकया रूपं नाप्यते क्षणिकं यदा ।
तदाऽनागतरूपं चातीतं किमिव गृह्यते ॥ ४९ ॥

प्रश्न

सूत्रों में (बुद्ध वचनों में) अतीत और अनागत रूपों का ग्रहण (होना) अनेकधा उपदिष्ट है। अत एव 'रूप' का ग्रहण (अवश्य) ही होता है ?

उत्तर

जब बुद्धि का उत्पाद (अत्यन्त) क्षणिक है और उसके द्वारा (जब) क्षण (मात्र के लिये) उत्पन्न रूप का ग्रहण नहीं होता है, तो (ऐसी स्थिति में) उसके द्वारा अतीत और अनागत के रूपों का बोध (ग्रहण) कैसे होगा ॥ ४९ ॥

अत्र रूपं बुद्धिश्चोभे क्षणिके मन्येते । यदा क्षणिकया बुद्ध्या क्षणजरूपं न गृह्यते, तदाऽतीतानागतरूपयोर्ज्ञानं कथं सम्भवेत् । असम्भ-

१. तस्य कतमो रूपवृन्धो ?

यं किञ्चि रूपं अतीतानागतपञ्चुप्पनं अज्झत्तं वा बहिद्धा वा ओलारिकं वा सुखुमं वा हीनं वा पणीतं वा यं दूरेसन्तिके वा.....। अयं बुच्चति रूपवृन्धो ।—खन्धविभङ्गो-पृ० १ । विभङ्ग ।

अभिधर्मकोश में भी अनास्रव रूप, अनिदर्शन रूप और अविज्ञप्तिरूप आदि होने का सूत्रवचन उद्धृत है —

त्रिविधामलरूपोक्तिवृद्ध्यकुर्वन्त्पथादिभिः ।—अभि० ४।४ ।

वान्न ज्ञानं जायते । ‘कथमिति’ स्पष्टार्थकत्वात् । अनया युक्त्या रूपस्या-
त्यन्तमग्राह्यत्वं (सिध्यति) ॥ ४६ ॥

यहाँ रूप और बुद्धि इन दोनों को क्षणिक माना जाता है । जब बुद्धि का उत्पाद क्षणिक होता है; तो (उसके द्वारा जब) क्षणमात्र के लिये उत्पन्न रूप का ग्रहण नहीं हो पाता है, तो ऐसी स्थिति में (उसके द्वारा) अतीत और अनागत के ‘रूपों’ का ज्ञान (आकार का ग्रहण) कैसे होगा, अर्थात् सम्भव नहीं है (यानि) नहीं जान सकती है । ‘कैसे’ (यह वाक्य) प्रकाशनार्थक है ।

इन युक्तियों के द्वारा ‘रूप’ की अत्यन्त अग्राह्यता (सिद्ध होती) है ॥ ४९ ॥

अपि च

वर्णसंस्थानयोरभ्युपगमेऽपि रूपग्रहणं नोपपद्यते ।

कस्मात् ?

कदापि वर्णसंस्थाने यदा नैव पृथक् पृथक् ।

नैकग्रहो हि भिन्नानां ह्युभे रूपं प्रसिध्यतः ॥ ५० ॥

और भी,

वर्ण और संस्थान मान लेने पर भी (बुद्धि द्वारा) ‘रूप’ का ग्रहण (मानना) युक्त नहीं होगा । क्यों ?

कभी भी वर्ण और संस्थान जब पृथक्त्वेन (गृहीत) नहीं होते हैं और पृथक्-पृथक् (अवस्थित वस्तुओं का) एकत्वेन ग्रहण नहीं होता है (तथा जबकि) वे दोनों रूपत्वेन प्रसिद्ध हैं (तो यह युक्त नहीं है) ॥ ५० ॥

यदि वर्णसंस्थाने पृथग्भूते, तदुभयोः पृथक्त्वेनैव ग्रहणं युज्यते ? ।
यदा वर्णसंस्थाने रूपत्वेन इष्येते, (तदा) नोपपद्यते (इति) ॥ ५० ॥

१. यह विचारणीय है कि वर्ण और संस्थान की भिन्न द्रव्यसत्ता सौत्रान्तिक भी नहीं मानते । तुलना करें—

“द्विग्राह्यं स्यान्न चाणौ तत्”—द्र० अभिको०—४।३ ।

यदि वर्ण और संस्थान (ये) दोनों भिन्न हैं, तो इसी से उन दोनों का भिन्न-त्वेन ग्रहण होना युक्ति-युक्त हो जाता है; पर जब वर्ण और संस्थान दोनों रूपत्वेन इष्ट हैं, (तब यह) युक्त नहीं होगा ॥ ५० ॥

अपि च

न रूपे नापि मध्ये हि चक्षुर्बुद्धिर्न चक्षुषोः ।
चक्षुः प्रतीत्य रूपं च विपर्यासो विकल्पना^१ ॥ ५१ ॥

जब कि चक्षुर्बुद्धि चक्षु में नहीं है और रूप में भी नहीं है; (उन दोनों के) बीच में भी नहीं है। फिर भी चक्षुः और रूप की अपेक्षा से उसकी (जो) परिकल्पना की जाती है, वह (मात्र) विपर्यय है ॥ ५१ ॥

परीक्ष्यमाणायां सा चक्षुषोर्नास्ति, न रूपे, न तयोर्मध्येऽपि । तदा यच्चक्षुः प्रतीत्य रूपञ्चेति तस्य उत्पादः परिकल्प्यते तद्विपर्यासः^२ ॥ ५१ ॥

परीक्षा करने पर यह चक्षुर्बुद्धि चक्षु में नहीं है। रूप में भी नहीं है। वह इन दोनों के बीच में भी नहीं है। (अतः) चक्षुः और रूप की अपेक्षा से उसके उत्पाद की परिकल्पना (होती है; वह मात्र) विपर्यय ही है ॥ ५१ ॥

अत्राह

सन्ति चक्षुः राद्यायतनानि तद्दृश्यगोचरादिसत्त्वात् । तत्र चक्षुः
रूपं पश्यति, तथैव श्रोत्राद्यपि यथायोग्यम् ?

१. “न चक्षुः प्रेक्षते रूपं मनो धर्मान् वेत्ति च ।” (.)

तथा च—चक्षुश्च प्रतीत्य रूपतः चक्षुर्विज्ञानमिहोपजायते ।

नो चक्षुषि रूप निश्चितं रूपसंक्रान्ति न चैव चक्षुषि ॥

ललितविस्तर—१३।१०५ ।

२. तुल० न चक्षुः प्रमाणं न श्रोत्रं घ्राणं

न जिल्ह प्रमाणं न कायचित्तम् ।—चन्द्रप्रदीप सू० ६।२३ ।

अत्रोच्यते

चक्षुः पश्यति नात्मानं रूपं पश्येन्नु तत्कथम् ।
 चक्षुर्निरात्मकं रूपं शेषाण्यायतनान्यपि ॥ ५२ ॥
 चक्षुः स्वभावतः शून्यं शून्यञ्च परभावतः ।
 शून्यं तथैव रूपञ्च शेषाण्यायतनान्यपि ॥ ५३ ॥

प्रश्न

(कहते हैं कि) चक्षुरादि आयतन सत् हैं; क्योंकि उनके गोचर दृश्य (श्रव्य) आदि (विषय) सत् हैं । इनमें से चक्षु रूप को देखती है, (इसी प्रकार) श्रोत्रादि भी यथायोग्य वैसे ही जान लेने चाहिए ?

उत्तर

यदि चक्षुः स्वयं को नहीं देखता, तो उसके द्वारा रूप का दर्शन कैसे होगा ? अतः चक्षुः और रूप निरात्मक (शून्य) हैं । शेष आयतनों को भी उसी प्रकार (जानना चाहिये) ॥ ५२ ॥

(जैसे) चक्षुः स्वभावतः शून्य है, वैसे ही (वह) परभावतः भी शून्य है । इसी प्रकार रूप भी शून्य है और शेष आयतन भी उसी तरह शून्य है ॥ ५३ ॥

‘तथैव’ इति यथा रूपं स्वभावतः परभावतश्च शून्यम्, तथैव शेषाण्यायतनान्यपि स्वभावतः परभावतश्च शून्यमिति सारूप्यं दर्शयति । अतः रूपं स्वभावतः परभावतश्च शून्यमेव ।

अपि च, प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वादपि शून्यम्^१ । इह खलु भूतान्युपादाय रूपं सिध्यति, तच्च प्रतीत्य (सापेक्ष्य) सिद्धं भवति । यत्प्रतीत्य सिध्यति, तन्न स्वभावतः सिध्यति । अत रूपं स्वभावतः शून्यम् ।

१. य इमं प्रतीत्यसमुत्पादं सततसमितम्, अजीवं निर्जीवं यथावदविपरीतमजातम-भूतमकृतमसंस्कृतमप्रतिघमनालम्बनं शिवमभयमनाहार्यमव्ययमव्युपशमस्वभावं पश्यति, (स धर्मं पश्यति) । इत्यादि—शालिस्तम्ब सू० ८ । पृ० १०० । महायान सू० संग्रह, भाग १ ।

परभावेनापि शून्यम् । तत्परं चक्षुः विज्ञानञ्च । तच्चक्षुः सवि-
ज्ञानकं विषयि भवति । रूपञ्च विषयः । यो विषयः स न स्याद्विषयी ।
अत एव तत् (रूपादि) परभावेनापि शून्यम् ।

‘तथैव’ द्वारा यहाँ सदृशता दिखाई गई है, जैसे ‘रूप’ स्वभावतः तथा पर-
भावतः शून्य है, उसी प्रकार शेष आयतन भी स्वभावतः और परभावतः शून्य हैं ।
अत एव रूप स्वभावतः और परभावतः शून्य है ।

और भी, प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से भी (रूपादि) शून्य हैं । यहाँ जिन (महा)
भूतों की हेतुता से रूप की सिद्धि हुई है, वह (वस्तुतः) प्रतीत्य सिद्धि है । जो प्रतीत्य
सिद्ध होता है, वह स्वभावतः (असिद्ध और) शून्य है ।

(वे) परभावतः भी शून्य है, उस (रूप) का पर है, चक्षुः और चक्षुर्बुद्धि ।
(अर्थात्) बुद्धि सहित चक्षुः (ग्राहक) विषयी हैं और ‘रूप’ (उनका) विषय ।
(उनमें से) जो विषय है, वह विषयी नहीं हुआ करता है । अत एव (विषयगत)
रूप परभावतः भी शून्य है ।

एकतः बुद्धिराध्यात्मिकी, रूपमनाध्यात्मकं बाह्यं भोग्यञ्च ।
ततोऽपि (सा) परभावोऽन शून्या । कुतश्चेत् ?

बुद्धिः यस्माद् बोध्यं प्रतीत्य समुत्पद्यते । कथं प्रतीत्य सिध्यति ?
बुद्धि बोध्यादिं प्रतीत्य सिध्यति । यत्प्रतीत्य सिध्यति, तन्न सिद्धं स्वभा-
वतः । अत एव सा बुद्धिर्नास्ति स्वभावतः । तस्मान्न युज्यते बुद्धिः सूक्ष्मा-
दिकमर्थं गृह्णातीति ।

‘तथैव रूपञ्चे’ति तत्सदृशम्^१ । यथा चक्षुः स्वभावतः परभाव-
तश्च शून्यम्, रूपमपि स्वभावतः परभावतश्च शून्यम् । कथं रूपं स्वभाव-
परभावतश्च शून्यमिति चेत् ?

१. इन्द्रियाणि च मायाख्या विषयाः स्वप्नसंनिभाः ।

कर्ता कर्म क्रिया चैव सर्वथापि न विद्यते ॥

“सर्वभावस्वभावो न विद्यते सर्वस्याम्”

(शू० स० कारिका-३)

इत्युक्तं प्राक्

परीक्षणेन न सन्ति सर्वे भावाः, सर्वेषां भावानां स्वभावो नास्ती-
ति वाक्यशेषः । शून्यमिति अनुपलब्धमिति शेषः ।

एक प्रकार से बुद्धि आध्यात्मिक है; रूप ब्राह्म और भोग्य होता है । (वह)
आध्यात्मिक नहीं होता है । अतः (बुद्धि) परभावतः शून्य है । वह कैसे ?

जिसकी अपेक्षा से बुद्धि उत्पन्न होती है, उससे । (वह) प्रतीत्यसमुत्पन्न कैसे
है ? बुद्धि तो बोध्यादि विषय की अपेक्षा से (प्रतीत्य) सिद्ध होती है । जो प्रतीत्य
सिद्ध होता है, वह स्वभावतः सिद्ध नहीं होता है । इसलिये बुद्धि स्वात्मना सत् नहीं
है । अतः बुद्धि द्वारा सूक्ष्मार्थ आदि का ग्रहण किया जाता है, यह कथन उचित
नहीं है ।

उसी तरह रूप भी (अर्थात् रूप भी) तत्सद्गुण है, जैसे चक्षुः स्वभावतः और
परभावतः शून्य है । रूप कैसे स्वभावतः और परभावतः शून्य है ?

क्योंकि “सभी भावों का स्वभाव सब में नहीं है ।”

(शून्य० स० करिका—३)

ऐसा पहले ही कहा जा चुका है

परीक्षण करने पर सभी भाव सत् नहीं है (अर्थात्) सभी भावों का स्वभाव
नहीं है, यह वाक्यशेष है । ‘शून्य’ (अर्थात्) ‘अनुपलब्ध’ यह वाक्यशेष है ।

चक्षुः शून्यं प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वात्, चक्षुष्ट्वं प्रतीत्य सिद्धत्वात् । तत्प्र-
तीत्य सिध्यति तन्न स्वभावतः सिध्यति । अतः चक्षुः स्वभावतः शून्यमेव ।

किञ्च (यदि) परभावे सत्त्वमिष्यते ? तदपि न युक्तम् । कुतः ?
यस्य स्वभावो नास्ति, तस्य कथं भवेत् परभावः । नास्ति परभावोऽपि ।
अत एव (चक्षुरादि) परभावतोऽपि शून्यम् । अन्यथा च परभावेनापि
शून्यमिति, तस्मात् (चक्षुषः) परा बुद्धिः, चक्षुः तथा बुद्ध्या शून्यमिति
वाक्यशेषः । कुतः ?

अविज्ञानत्वाच्चक्षुषः । कथम् ? यतो ह्यविज्ञानकस्वभावस्य विज्ञान-
नकस्वभावेन सस्वम् इति न न्याय्यम् । तस्मात्परात्मतोऽपि शून्यमिति ।
परञ्च बुद्धिरपि शून्यम् ।

प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से (भी) चक्षुः शून्य है (अर्थात् चक्षुः) चक्षुष्ट्व की अपेक्षा से सिद्ध है । जो प्रतीत्य (अपेक्ष्य) सिद्ध होता है, वह स्वभावतः सिद्ध नहीं होता है । अतः चक्षुः स्वभावतः शून्य है ।

यह मान (भी) लें कि चक्षुः स्वभावतः सिद्ध नहीं है; परन्तु (वह) परभावतः सत्त्वेन इष्ट है; तो भी समीचीन नहीं होगा; क्यों ? जिसमें स्वभाव नहीं है, उसका परभाव कैसे सम्भव है; (अर्थात्) परभाव नहीं है । अतः चक्षुः) परभावतः (परात्मना) भी शून्य है ।

अन्य प्रकार से भी (चक्षुः) परभावतः शून्य है । (यहाँ जो पर) कहा गया है, वह (इस प्रकार जानना चाहिये) यहाँ 'पर' (से तात्पर्य) बुद्धि से है । चक्षुः बुद्धि से भी शून्य है, यह वाक्यशेष है । कैसे ? चक्षुः (का स्वभाव) ज्ञान से रहित है, क्योंकि (जिसके स्वभाव में) ज्ञान का अभाव हो, वह ज्ञान स्वभाव वाला हो, यह न्यायसंगत नहीं है । अतः (चक्षुः) परभावतः भी शून्य है । और बुद्धि भी शून्य है ।

अगाह

चक्षुरात्मानं पश्यति न बुद्धिः । कुतः ? बुद्धेः ग्राहकत्वात्, यतो हि बुद्ध्या सूक्ष्माद्यर्थानां ग्रहणं भवति, अतः सा बुद्धिः । चक्षुषाऽऽत्मा दृश्यते । तद्यथा चक्षुः भूतप्रसादात्कम् । अयमेव चक्षुषः स्वभावः । तद्-ग्राहिका बुद्धिरेव । तथैव रूपविशेषयोर्वर्ण-संस्थानयोर्ग्राहिका बुद्धिरेव । अत एव—

“चक्षुः पश्यति नात्मानं रूपं पश्येन्नु तत्कथम् ॥”

(शून्य० श० ५२)

इति यच्चयोदितं तन्नोपपद्यते ?

अज्ञोच्यते

तन्न तथैव । कुतः ?

चक्षुः स्वभावतः शून्यं शून्यं च परभावतः ।

शून्यं तथैव रूपं च शेषाण्यायतनान्यपि ॥

(शून्य० स० ५३)

इह चक्षुः स्वात्मना शून्यम् । स्वात्मनेतिस्वयम् । यद्यात्मानं न पश्यति चक्षुः रूपं कथं पश्यति तेन । यत आत्मानमपि न पश्यति, न पश्यति रूपमपि च । तस्माच्छक्षुषो नैरात्म्यं निःस्वभावस्वञ्चेत्युक्तम् ।

अपि चा, रूपमनात्मम् । यन्न भाति (रूप्यते) तन्न रूपम् । तथैव शेषाण्यायतनान्यपि, एवमेव क्रमेण शेषायतनानामपि नैरात्म्यं नैः-स्वाभावव्यम् ॥ ५२-५३ ॥

यहाँ प्रश्न है

बुद्धि (स्वयं को) नहीं (देखती) पर चक्षुः स्वयं को देखता है । कैसे ? बुद्धि (विषय) ग्राहक होती है; क्योंकि बुद्धि (रूपादि) सूक्ष्म अर्थ को ग्रहण करती है । इसलिये (वह) बुद्धि है । (पर) चक्षुः स्वयं को देखता है । वह इस प्रकार है—

चक्षुः रूपप्रसादात्मक है । वही चक्षुः का स्वभाव है । उसका ग्राहक मात्र बुद्धि ही होती है । इसी प्रकार वर्ण संस्थान आदि रूपविशेष की ग्राहक भी बुद्धि ही होती है ।

अत एव

“यदि चक्षुः स्वयं को नहीं देखता, तो उस (के द्वारा) रूपका दर्शन कैसे होगा ?”
(शून्यतासप्तति, का० ५२)

यह जो आपका कथन है, वह युक्ति-युक्त नहीं है ?

उत्तर

वह (कथन) वैसा नहीं है । क्यों ? (वह तो इसीलिये कहा गया है)—

चक्षुः स्वभावतः शून्य है (और) वह परभावतः भी शून्य है । इसी प्रकार रूप भी शून्य है । शेष आयतन भी तथैव शून्य है ।

(शून्यतासप्तति, का० ५३)

चक्षुः स्वभावतः शून्य है। यहाँ स्वभाव से तात्पर्य 'स्वयं' है। यदि चक्षुः स्वयं को नहीं देखता, तो उसके द्वारा रूपका दर्शन कैसे होगा ?

किसलिए (वह) स्वयं को नहीं देखता और रूप का भी नहीं देखता है ? इसीलिये (तो) यह कहा गया है कि 'चक्षु निरात्मक और शून्य है'।

अपि च, रूप निरात्मक है। (क्यों ?) जैसे निराभास (कोई भी धर्म) रूप नहीं हुआ करता है। शेष आयतन भी उसी प्रकार है, (अर्थात्) इसी क्रम से शेष आयतनों का निरात्म्य और निःस्वभावता जाननी चाहिये ॥ ५२-५३ ॥

अपि च

संस्पर्शेन सहैकं स्यात्तदान्येषां हि शून्यता ।
शून्यं नापेक्षतेऽशून्यं ह्यशून्यं चापि शून्यताम् ॥५४॥

और भी

यदि (कोई) एक (आयतन) स्पर्श के साथ (सम्प्रयुक्त) होता है, तो उस समय अन्य (आयतन स्पर्श से) शून्य होते हैं। (यों) शून्य अशून्य की अपेक्षा नहीं करता है, (और) अशून्य भी शून्य की अपेक्षा नहीं करता है ॥ ५४ ॥

यदा एकमायतनं स्पर्शेन सह भवति, तदाऽन्यानि शून्यानि ।
शून्यं नाशून्यमपेक्षते, अशून्यमपि नापेक्षते शून्यताम् ॥ ५४ ॥

जिस समय एक आयतन स्पर्श के साथ प्रयुक्त होता है, उस समय अन्य (सभी आयतन) शून्य हो जाते हैं। (ऐसी स्थिति में) शून्य अशून्य की अपेक्षा नहीं करता और अशून्य भी शून्यता की अपेक्षा नहीं करता है ॥ ५४ ॥

अथ च

नास्ति स्वभावसंयोगः त्रिकमस्थितमप्यसत् ।
तत्स्वभावात्मसंस्पर्शो नास्त्यतो वेदनापि सत् ॥५५॥

अपि च

(त्रिकसन्निपात में) 'त्रिक' (इन्द्रिय, अर्थ और ज्ञान) सत् नहीं है; क्योंकि

(वे) स्वभावतः अवस्थित नहीं हैं । अतः उनका संयोग (संनिकर्ष) नहीं होता है और तज्जनित स्पर्श भी नहीं होता है । अत एव वेदना भी सत् नहीं है ॥ ५५ ॥

त्रिक्रमसत् । अस्थितानामसत्स्वभावानां च योगो न सम्भवति । योगाभावात्तदात्मको नास्ति संस्पर्शः । (तस्मात्) तत्सम्भूतः स्पर्शो नास्तीत्युक्तम् । स्पर्शाभावान्नास्ति वेदना ॥ ५५ ॥

(इन्द्रिय अर्थ और मनस्कार) इन तीनों के सत् न होने से, असत् अविद्यमान स्वभावों का संयोग (संनिकर्ष) नहीं होता है । इसलिये कहा गया है कि—‘तदात्मकस्पर्श’ भी नहीं होता है । (अर्थात्) तत्सम्भूत स्पर्श नहीं हो सकता है । स्पर्श के न होने से वेदना भी नहीं है ॥ ५५ ॥

अन्यच्च

अन्तरायतनं प्राप्य विज्ञानं बाह्यमेव वा ।
जायतेऽतो न विज्ञानं शून्यं मायामरीचिवत् ॥५६॥

और भी

आध्यात्मिक और बाह्य आयतनों की अपेक्षा से विज्ञान का उत्पाद होता है । अत एव विज्ञान (भी स्वभावतः) नहीं है । (वह) माया और मरीचि के समान शून्य है ॥ ५६ ॥

यतः बाह्यानि आभ्यन्तरानि चायतनानि प्रतीत्य विज्ञानं जायते । अतः विज्ञानमपि नैवास्ति, तच्च मायामरीचिवच्छून्यम् ॥ ५६ ॥

चूँकि बाह्य और आध्यात्मिक आयतनों की अपेक्षा से विज्ञान का उत्पाद होता है । अतः विज्ञान भी सत् नहीं है । माया और (मृग) मरीचि के समान वह शून्य है ॥ ५६ ॥

अत्रास्त्येव विज्ञानम्, विज्ञानातीत्येवं मन्यते (इति) चेत् ? तदपि नोपपद्यते । कथमिति ?

विज्ञेयापेक्षयोत्पादाद्विज्ञानं नास्ति सद् ध्रुवम् ।
ज्ञातुश्चाविद्यमानत्वमसत्त्वाज्ज्ञानज्ञेययोः ॥५७॥

यहाँ यह मान लें कि विज्ञान विज्ञानन कार्य करता है। यह (कथन) भी युक्त नहीं है। क्यों ?

विज्ञान, तो विज्ञेय की अपेक्षा से ही होता है। अतः (वह) सत् नहीं है। विज्ञान और विज्ञेय दोनों असत् होने से विज्ञाता भी सत् नहीं हो सकता है ॥ ५७ ॥

विज्ञानं नास्ति, यतः विज्ञेयं प्रतीत्य तदुत्पादः । तस्मात्तन्नास्ति ।
विज्ञानविज्ञेययोश्चासत्त्वाद्विज्ञाताऽपि न सम्भवति ॥ ५७ ॥

चूँकि विज्ञान का उत्पाद विज्ञेय की अपेक्षा से होता है। अतः (वह) सत् नहीं है। विज्ञान और विज्ञेय के अभाव में विज्ञाता भी सत् नहीं हो सकता ॥ ५७ ॥

अग्राह

सर्वमनित्यमिति देशितम् (बुद्धे न ?) । सर्वमनित्यमिति देशनयाऽ-
शून्यत्वमपि परिदीप्यते ?

अत्रोच्यते

कश्चिन्नित्यो ह्यनित्यो वाऽनित्यं सर्वं च नास्ति वा ।
भावे नित्यं ह्यनित्यं वा कथङ्कारं तथा भवेत् ॥५८॥

यहाँ (स्वनिकाय के कुछ लोगों का) कहना है।

(भगवान् बुद्ध ने) कहा था कि—“सर्वं अनित्यम्” इस (कथन) द्वारा समस्त (संस्कारों की) अनित्यता^२ का निर्देश किया गया है और (साथ ही) इसके द्वारा अशून्यता का भी निदर्शन किया गया है ?

१. (क) “अथ खलु महामतिर्बोधिसत्त्वो महासत्त्वः पुनरपि भगवन्तमेतदवोचत् — अनित्यता अनित्यतेति भगवन् सर्वतीर्थकरैर्विकल्प्यते । त्वया च सर्वदेशनापाठे देश्यते— अनित्या वत् संस्कारा उत्पादव्ययधर्मिण इति ।” द्र०—लङ्कावतार सू० अनित्यतापरिवर्तः— ३ । पृ० ८३ । मिथि० संस्करण—१९८३ ॥

(ख) अतीतानागतपञ्चुपन्ने रूपे अनिचवानुपस्सना.....३।५।६ । खुद्द० भाग— ४, पृ० ४४८ ॥

(ग) सर्वधर्माणां क्षणमङ्ग भेदलक्षणं चैषाम्—।—लंका० पृ० ६५ । मिथि० सं० १६६३ ।

२. अनित्याः सर्वसंस्कारा..... । द्र०—मञ्जुश्री मू० ५३।१ ।

उत्तर

सर्व अनित्य या नित्य अथवा नित्यानित्य (इनमें से) कोई भी नहीं है ।
(क्योंकि यदि) भाव सत् है, (तो) नित्य या अनित्य (इनमें से कोई) हो सकता
है; पर ऐसा कहाँ है ॥ ५८ ॥

सर्वमनित्यमिति देशनाः, अत्राभिप्रायिकीति ज्ञातव्या । यतो हि
नित्यमनित्यं वा किमपि नास्ति । सति भावे भवेन्नित्यमनित्यं वा । भावाः
कथं भवेयुः, न सन्त्येवेत्युक्तम् ॥ ५८ ॥

‘सर्व अनित्य’ जो (भगवान् बुद्ध ने) कहा था; उस (देशना) को आभिप्रायिक
जानना चाहिये; क्योंकि अनित्य या नित्य (इन में से) कोई भी सत् नहीं है । (यदि)
भाव (अर्थात् कोई भी पदार्थ यदि) सत् हो, तो (वह) नित्यता अथवा अनित्यता
(में से कोई) हो सकता है । (पर) यह कहा जा चुका है कि—‘भाव’ कहाँ
(सत्) हैं ॥ ५८ ।

अत्राह

सन्ति राग-द्वेष-मोहाः, एवं विस्तरेण देशितत्वात्सूत्रेषु ?

अत्रोच्यते

रागो द्वेषश्च मोहो हि चेष्टानिष्टविपर्ययैः ।
प्रत्ययजा ह्यतो रागो द्वेषो मोहश्च न स्वतः ॥ ५९ ॥

सूत्रों में सविस्तर (‘कर्मों’ का) निर्देश हुआ है । अतः (तज्जनक) राग-द्वेष
और मोह (अवश्य) सत् है ?

१. (क) त्रीण्यकुशलमूलानि—तद्यथा लोभः, मोहः द्वेषश्चेति । द्र०—धर्मसंग्रह ।
सू०—२० पृ० ३३६ । महायान सू० संग्रह भाग I ।

(ख) चतुर्विंशतिरुपपत्तेशाः । तद्यथा—क्रोधः, उपनाहः, इत्यादि । द्र०—वही०
पृ० ३३३ ।

(ग) लोभं पटिच्च मोहो, मोहं पटिच्च लोभो, दोसं पटिच्च मोहो, मोहं पटिच्च
दोसो..... हेतुगोच्छक पृ० १, पट्ठान, भाग—III ।

यहाँ इसका उत्तर है

इष्टानिष्ट और विपर्ययों से राग, द्वेष और मोह का उत्पाद होता है । अतः राग, द्वेष और मोह स्वभावतः सत् नहीं हैं ॥ ५९ ॥

रागद्वेषमोहा न स्वभावतः, यतो हीष्टानिष्टविपर्ययप्रत्ययैश्च समुत्पन्नत्वात् ॥ ५९ ॥

क्यों कि इष्ट, अनिष्ट और विपर्यय प्रत्ययों से ही राग, द्वेष और मोह का उत्पाद होता है । अतः राग, द्वेष और मोह निःस्वभाव हैं ॥ ५९ ॥

अथ च

यस्मिन् रागो भवेत्तस्मिन् द्वेषमोहौ यतस्ततः ।
विकल्पतो हि जायन्ते नो विकल्पोऽपि तत्त्वतः ॥ ६० ॥

अपि च

चूँकि उसी (एक ही विषय) में राग, उसी में द्वेष और उसी में मोह (प्रवृत्त होते देखे जाते) हैं । अतः ये सब (मात्र) कल्पनाजनित हैं और कल्पना तत्त्वतः असत् हैं ॥ ६० ॥

यत एकस्मिन्नेव (विषये) रागः, तस्मिन्नेव द्वेषो मोहश्च,
तस्माद् रागद्वेषमोहा विकल्पतः समुपजायन्ते ॥ ६० ॥

(रूपादि) एक ही विषय, (जो सर्वसाधारण होता है) में राग (भी प्रवृत्त होता है और) उसी में द्वेष और मोह भी (प्रवृत्त) होते हैं । अतः राग, द्वेष और मोह (ये सब) मात्र विकल्पजनित हैं ॥ ६० ॥

१. काम जानामि ते मूलं संकल्पात्किल जायते ।

न त्वां संकल्पयिष्यामि ततो मे न भविष्यसि ॥—महावस्तु ३।१९० ।

इति गाथाभिधानात्—

संकल्पप्रभवो रागो द्वेषो मोहश्च कथ्यसे ।

शुभाशुभविपर्यासान् संभवन्ति प्रतीत्य हि ॥—२३।१ । म० शा० ।

अपि च

विकल्पा अपि न भाविकाः । यैर्विकल्पैः रागद्वेषमोहा उत्पद्यन्ते,
तेऽपि न तात्त्विकाः । कथम् ?

अत्रोच्यते

ये विकल्प्या न ते सन्ति कल्प्याभावे क्व कल्पनम् ।

प्रत्ययैर्जनितत्वाद्धि शून्ये कल्पककल्पने? ॥६१॥

विकल्पनाएँ भी तत्त्वतः सत् नहीं हैं; अर्थात् जिन विकल्पनाओं द्वारा राग, द्वेष और मोह का उत्पाद होता है, वे भी तत्त्वतः सत् नहीं हैं। कैसे सत् नहीं हैं ?

यहाँ कहना है कि

जो विकल्प्य है, वह सत् नहीं है। (जब) विकल्प्य (अर्थात् विषय) नहीं है, तो विकल्पना कैसे होगी। अतः (हेतु) प्रत्ययतः उत्पन्न होने से विकल्प्य और विकल्पना (दोनों) शून्य है ॥ ६१ ॥

यद्विकल्प्यं तन्नास्तीति । असति च विकल्प्ये कुतो भवेद्विकल्पना ।
प्रत्ययैर्जातत्वाद् विकल्प्यमपि स्वभावतः शून्यम् । शून्या स्वभावतः विकल्प-
नाऽपि ॥ ६१ ॥

जो विकल्प्य है, वह सत् नहीं है। विकल्प्य के अभाव में विकल्पना सत् कैसे होगी ? प्रत्ययतः उत्पन्न होने से विकल्प्य स्वभावतः शून्य है। अतः विकल्प भी स्वभावतः शून्य है ॥ ६१ ॥

१. (क) विकल्पश्च विकल्प्यश्च विकल्पस्य प्रवर्तते ।—१०।१३१। लङ्का० सू० ।

(ख) निर्हेतुकं विकल्पं हि विकल्पोऽपि न युज्यते ।—१०।१९८ वही ।

(ग) विकल्पैर्विकल्पितं नास्ति विकल्पश्च न विद्यते ।—१०।६२२। वही ।

अपि च

चतुर्विपर्ययै^१ जाता नाविद्या तत्त्वदर्शनात्^२ ।
तदभावे न संस्काराः स्युः शेषा अपि तादृशाः ॥६२॥

और भी

तत्त्व दर्शन होने पर विपर्ययचतुष्टय से उत्पन्न अविद्या (का उत्पाद) नहीं होती है । उसके अभाव में सभी (प्रकार के) संस्कार नहीं होते हैं । शेष (अवयव) भी इसी प्रकार है^३ (यह जानना चाहिये) ॥ ६२ ॥

एवं तत्त्वदर्शनाच्चतुर्भिर्विपर्ययासैर्जनिताऽविद्या न सम्भवति ।
तदभावे तस्यामविद्यायामसत्यां संस्कारा न जायन्ते । एवमेव शेषाः
(धर्माः) अपि न सम्भवन्ति ॥ ६२ ॥

इस प्रकार तत्त्व का ज्ञान हो जाने पर चार विपर्ययों से उत्पन्न अविद्या (पुनः) उत्पन्न नहीं होती है । उसके न होने से (अर्थात्) उस अविद्या के अभाव में संस्कारों का उत्पाद (भी) नहीं होता है । इसी प्रकार शेष (द्वादश अवयवों का) भी (उत्पाद) नहीं होगा ॥ ६२ ॥

अपि च

यद्यत्प्रतीत्य यज्जातं तदभावे न तत्ततः ।
भावाभावाश्च संस्कारासंस्काराः शान्तनिवृत्ताः ॥६३॥

१. इह चत्वारो विपर्यासा उच्यन्ते । तद्यथा — अनित्ये प्रतिक्षणविनाशिनि स्कन्ध-पञ्चके यो नित्यमिति ग्राहः, स विपर्यासः । प्रसन्न० पृ० २०१ । मिथि० संस्करण — १९६० ।

२. उक्त विपर्यास विकल्पों का प्रतिपक्ष योनिशोभनसिकार है — “नव योनिशोभन-सिकारंका धम्मा — अनिचचतो योनिशो मनसिकारतो” इत्यादि । — १।१३।१६४ । खुद्द० भाग — ७ ।

३. कतमा च, भिक्खवे, सम्मापटिपदा ? अविज्जाय त्वेव असेसविरागनिरोधा संस्कारनिरोधो..... १।२३ । — पृ० ६ । संयुत्तनि० — २।३ । निदानवग्गो ।

अपि च

जिसकी अपेक्षा से जो उत्पन्न होता है, वह उसी से उत्पन्न है। वह उसके अभाव में नहीं हुआ करता है। (अतः) भाव-अभाव, संस्कृत-असंस्कृत, (ये सब) उपशान्त और निर्वाण के समान हैं ॥ ६३ ॥

यत्प्रतीय यदुत्पद्यते तत्तस्मादुत्पन्नं भवति । तदभावे तदभावः ।
भावाभावाः शान्ताः, संस्कृतासंस्कृताश्च शान्ता निर्वृताश्च^१ ॥ ६३ ॥

जिन (हेतु-प्रत्ययों) की अपेक्षा से जिसका उत्पाद होता है, वह उसी से उत्पन्न होता है। वह उनके अभाव में नहीं हुआ करता है। (उत्पादक हेतु-प्रत्ययों के अभाव में) भाव अभाव, संस्कृत और असंस्कृत (आदि सभी धर्मपर्याय) निर्वाण के समान उपशान्त है। (अर्थात् वे स्वभावतः परिनिवृत्त हैं ॥ ६३ ॥

अथ च

हेतुप्रत्ययजा भावाः कल्पयन्ते ये च तत्त्वतः ।

प्रतीत्यभूतं (वस्तु यो ध्रुवतः) अभिनिविशति, पश्यति, गृह्णाति,
कल्पयति च (तदेव)—

प्रोक्ता शास्त्रा ह्यविद्या^२ सा द्वादशाङ्गं ततो भवेत् ॥ ६४ ॥

और भी

हेतु-प्रत्ययों से जनित भावों (को) जो तत्त्वतः अर्थात् निरपेक्ष और स्वतन्त्र रूप से) सत् होने की कल्पना की जाती है।

१. निर्वाणं निर्वृत्तिरेव निर्वाणं च न लभ्यते ।

अप्रवृत्तिर्हि धर्माणां यथा पञ्चात्तथा पुरा ॥ २४।५ ।

सर्वधर्माः स्वभावेन निर्वाणसमसादृशाः ।

ज्ञाता नैष्कर्म्यसारेहि ये युक्ता बुद्धबोधये ॥ २४ । ६ । समाधि० ।

२. (क) कतमा च भिक्खवे, अविज्जा ? यं खो, भिक्खवे, दुक्खे अज्ज्जाणं,.....।
द्र०—१२।२। संयुत्तनि० । निदानवग्गो ।

(ख) तत्र कतमा अविद्या ? यत्तत्पूर्वान्तेऽज्ञानम् ! इत्यादि—द्र०—अर्थविनिश्चय
सू० १९ । पृ० ३१२, महायान सू० संग्रह० भाग—I

(अर्थात् उन्हें) ध्रुव वस्तु के रूप में अभिनिवेश करता हो, देखता हो, निश्चय करता हो और ग्रहण करता हो,

शास्ता ने उसी को 'अविद्या' कहा है और उसी से द्वादशाङ्ग प्रसूत होते हैं ॥ ६४ ॥

अपि च

भावशून्यत्वसज्ज्ञानान्नाविद्या तत्त्वदर्शनात् ।
सो ह्यविद्यानिरोधोऽतो द्वादशाङ्गं निरुध्यते ॥ ६५ ॥

और भी

भाव शून्यत्व को सम्यग् रूप से देख ले और उसका ज्ञान हो जाए, तो अविद्या का उत्पाद नहीं होता है । यह अविद्या का निरोध है । इसी से द्वादश अंग निरुद्ध हो जाता है ॥ ६५ ॥

ते भावाः स्वभावतः शून्या इति यथातत्त्वं सम्यग्ज्ञाने सति
न भवत्यविद्या । एष एव अविद्यानिरोधः । ततः द्वादशाङ्गं निरुद्धं
भवति ॥ ६५ ॥

(हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न) उन भावों की शून्यता को यथावत् सम्यग् रूप से जान लें (वे सुविज्ञात हो जाएं) तो (ज्ञाता की सन्तति में) अविद्या का (पुनः) उत्पाद नहीं होता है । वही अविद्या का निरोध है । इसी (अविद्या के निरोध) से (प्रतीत्यसमुत्पाद के) द्वादशाङ्ग निरुद्ध हो जाते हैं ॥ ६५ ॥

कस्मादिति चेत्

मायामरीचिगन्धर्वपुरबुद्बुदफेनवत् ।
संस्काराः स्वप्नसंकाशा विद्यन्तेऽलातचक्रवत्^१ ॥ ६६ ॥

१. फेनपिण्डोपमं रूपं वेदना बुद्बुदोपमा ।

मरीचिसदृशी संज्ञा संस्काराः कदलीनिभाः ।

मायोपम च विज्ञानमुक्तमादित्यबन्धुना । (उद्धृत-प्रसन्न० पृ० २४०) ।

यह गाथा सभी निकायों के सूत्र ग्रन्थों में उपलब्ध होती है ।

कैसे ?

(सभी) संस्कार गन्धर्वनगर, माया, मरीचि, बुदबुद और जलफेन के सदृश हैं तथा स्वप्न और अलात् चक्र के समान हैं ॥ ६६ ॥

यतः परीक्षणेन संस्काराः (धर्माः) मायामरीचिगन्धर्वनगर-
सदृशाः सन्ति । ततः तेषां स्वभावशून्यतायाः सम्यग् ज्ञाने सति न
सम्भवत्यविद्या, स एव (अविद्यायाअभावः) अविद्यानिरोधः । ततश्च
द्वादशाङ्गं निरुध्यते ॥ ६६ ॥

चूँकि परीक्षण करने पर सभी संस्कार माया, मरीचि और गन्धर्वनगर के समान (मिथ्या और असत्) हैं । अतः वे स्वभावतः शून्य हैं । इसका सम्यग् रूप से सुविज्ञात हो जाने पर अविद्या का (पुनः) उत्पाद नहीं होता है । वही अविद्या का निरोध है । इस (के निरोध) से (शेष) द्वादशाङ्ग निरुद्ध हो जाता है ॥ ६६ ॥

भावः स्वभावतः कश्चिन्नात्राभावोऽपि विद्यते ।

हेतुप्रत्ययतो जातो भावोऽभावश्च शून्यकः ॥६६॥

कोई भी भाव स्वभावतः नहीं होता है । भाव का अभाव भी यहाँ सत् नहीं है । हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न भाव और अभाव (सब) (स्वभावतः) शून्य हैं ॥६७॥

अन्वीक्षणेन परमार्थतः कश्चिदपि भावो नास्ति स्वभावतः । नास्त्यत्र
अभावोऽपि कश्चित् । हेतुप्रत्ययजनितो भावोऽभावश्च शून्यः ॥६७॥

अन्वेषण करने पर परमार्थ में कोई भी भाव स्वभावतः नहीं है । कोई भाव का अभाव भी परमार्थतः (सत्) नहीं है । हेतु-प्रत्ययों से जनित भाव और अभाव (दोनों) शून्य हैं ॥ ६७ ॥

सर्वभावस्वभावानां शून्यत्वादुपदिष्टवान्^१ ।

सर्वे प्रतीत्यजा भावा इत्यतुल्यस्तथागतः ॥६८॥

१. भगवान् ने समस्त विपर्यस्त विकल्पों के उपशमन के लिये गंभीर प्रतीत्यसमुत्पाद

सभी भाव स्वभावतः शून्य होने से, अतुल्य तथागत ने भावों के इस प्रतीत्य-समुत्पाद की देशता दी है ॥६८॥

सर्वे भावाः स्वभावतः शून्याः अत एव अमीषां भावानाम् अयं प्रती-
त्यसमुत्पादस्तथागतेन उपदिष्टः ॥६८॥

सर्व भाव स्वभावशून्य हैं । इसलिये तथागत ने भावों की प्रतीत्यसमुत्पन्नता का उपदेश दिया है ॥६८॥

तन्मात्रः परमार्थो हि भगवान् बुद्ध उक्तवान् ।
लोकवर्तनमाश्रित्य सर्वं नाना यथार्थतः ॥६९॥

परमार्थ तो मात्र इतना ही है; (पर) बुद्ध भगवान् ने लोकव्यवहार की अपेक्षा से विविध सभी प्रकार के (धर्मों का) यथार्थतः (अर्थात् यथाभूत रूप से) प्रज्ञापन किया है ॥ ६९ ॥

परमार्थस्तु 'सर्वे प्रतीत्यसमुत्पन्ना भावाः स्वभावतः शून्याः' इत्य-
त्रैवान्तर्गताः । भगवता बुद्धेन तु लोकव्यवहारमाश्रित्य अशेषा नाना च
सर्वे (धर्माः) तत्त्वतो यथाभूतं प्रज्ञप्ताः ॥६९॥

सभी प्रतीत्यसमुत्पन्न भाव परमार्थ में स्वभावतः शून्य हैं । (अर्थात् परमार्थ का अभिप्राय) इसी में ही समाप्त है । (परन्तु) भगवान् बुद्ध द्वारा समस्त (अर्थात्) सभी विविधताएँ लोकव्यवहार की दृष्टि से सत्यतः प्रज्ञप्त की गई हैं ॥ ६९ ॥

का उपदेश दिया, यह सम्भवतः सभी निकायों में समान रूप से मान्य है--

(क) गम्भीरो चायं आनन्द, पटिच्चसमुत्पादो गम्भीरावभासो च । (द्र०-२ १)
दीघनि, भाग--II ।

(ख) तत्थ अत्थगम्भीरताय, इत्यादितः.....अयं पटिवेधगम्भीरता ति वेदितब्बा ।
द्र०-सुमङ्गलविलासिनी--पृ० १२० । भाग--II । यही बात शालिस्तम्बसूत्र में भी कही गई है--द्र० शालिस्तम्ब सू० पृ० १०१ । महायान सूत्रसंग्रह-मिथि० सं०-१९६१ ।

लोकभासनभङ्गो^१ न धर्मः कश्चिन्न तत्त्वतः^२ ।

भीतोऽज्ञोऽकल्पनिर्हारे सौगते वचने त्वतः ॥७०॥

(वे) लोक देशनाओं का भङ्ग (उल्लङ्घन) भी नहीं करते हैं और तत्त्वतः किसी धर्म की देशना भी नहीं करते । तथागत की देशनाओं (के इस रहस्य) को न जानने के कारण इस निर्विकल्प प्रतिपत्ति से (लोग) भयभीत होते हैं ॥ ७० ॥

लोकधर्माणां या देशना न तस्याः प्रत्याख्यानम्, तत्त्वतश्च न कदापि धर्मदेशना क्रियते । एवंविधानां देशनानां यथार्थानभिज्ञतया तथागतदेशनानाम् अनभिज्ञानान् मूढाः कल्पनालक्षणरहिताया अस्याः प्रतिपत्तेः बिभ्यति ॥७०॥

(वे) जो लौकिक धर्म की देशना है, उसका भङ्ग (अर्थात् उल्लङ्घन) भी नहीं करते हैं और कदापि तत्त्वतः धर्म की देशना (भी) नहीं देते हैं । इस प्रकार की देशनाओं का अर्थ (अभिप्राय) न समझने से (अर्थात्) तथागत की देशनाओं के अभिप्राय की अनभिज्ञता के कारण मूढ (बाल पृथग्जन) लोग अविकला और अलक्षण (अनिमित्त) इस प्रतिपत्ति से (अत्यन्त) भयभीत होते हैं ॥७०॥

इदम्प्रतीत्य चास्तीदं^३ न रोधो लोकपद्धतेः ।

प्रतीत्यजः स निःसत्त्वः सन्त्येते निश्चयः कथम् ॥७१॥

१. न प्रणश्यन्ति कर्माणि कलकोटिशतैरपि ।

सामग्रीं प्राप्य कालं च फलन्ति खलु देहिताम् ॥

—सूत्रम् उद्धृत-प्रसन्न० । पृ० १३९ ।

२. (क) न समेषु न ओमेषु, न उस्सेसु वदते मुनि ।—अत्तदण्ड सु० १. १५. १८९ ।

(ख) यस्यां च रात्रौ तथागतो.....यस्यां च रात्रौ परिनिवृत्तः एकमध्यक्षर नोदाहृत न प्रव्याहृतम् ।—पृ० ६८ । लंका० सू० मिथि सं० १९ ३ ॥

३. प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना एक ओर अहेतुकता, एकहेतुकता, नियतिवाद का निषेध करती है । दूसरी ओर सहेतुक, सप्रत्यय उत्पाद का विधान करते हुए उच्छेदवाद का निषेध एवं लोकव्यवहार का विधान करती है । विशेषरूप से यह अस्तित्वमात्र की सापेक्षता और उसकी निःस्वभावता एक साथ निरूपण करती है । इसका अतिसंक्षेप आकार या लक्षण इदंप्रत्ययता है । जैसे कहा गया है—“तत्र भगवता प्रतीत्यसमुत्पादलक्षणं संक्षेपेणोक्तमिदंप्रत्ययताफलम्”—शालिस्तम्ब सू० ८ । पृ० १०१ ।

(इदं प्रतीत्य इदं भवति =) इस की अपेक्षा से यह होता है । (बुद्ध) इस प्रकार की लोक प्रतिपत्तियों का निषेध भी नहीं करते हैं, जो प्रतीत्यसमुत्पन्न है, वह निःस्वभाव है । (वह) कैसे सत् सम्भव है ? (सत् न होना) 'यही नियत' है ॥ ७१ ॥

“इदं प्रतीत्य इदं भवति”—इत्ययं लोकनयो न निषिध्यते । ये प्रतीत्यसमुत्पन्नास्ते निःस्वभावाः, येऽविद्यमानास्ते विद्यमाना भवेयुरित्येतत् कथं निश्चीयते ॥ ७१ ॥

‘इसकी अपेक्षा से यह होता है’ इत्यादि लोक प्रतिपत्तियों (लौकिक व्यवहार मार्ग) का निषेध नहीं किया जाता है । जो प्रतीत्य (हेतु प्रत्यय की अपेक्षा से) उत्पन्न है, वह स्वभावतः सत् नहीं होता है) जो (स्वभावतः) नहीं है वह कैसे सत् होगा ? यह उस (प्रतीत्यसमुत्पाद) की नियतता है ॥ ७१ ॥

तत्त्वान्वीक्षारतः श्राद्ध उक्ते कुत्रापि न स्थितः ।

प्राप्य युक्त्या नयं शान्तः भावाभावप्रहाणतः ॥ ७२ ॥

श्रद्धावान् तत्त्वान्वेषण में व्यस्त, किसी भी उपदिष्ट धर्म में अनासक्त होकर इस प्रतिपत्ति का अनुयायी भाव और अभाव (दोनों अन्तों) का परित्याग कर शान्त हो जाता है ॥ ७२ ॥

श्रद्धावान् तत्त्वान्वेषणे व्यस्तः उपदिष्टे कस्मिंश्चिदपि धर्मे चास्थितः सन् कश्चनपि (पुद्गलः) अस्यां प्रतिपत्तौ युक्त्या अनुसरन् तदन्वयाभिलाषुकः भावाभावौ (प्रपञ्चौ) प्रहाय उपशान्तो भवति ॥ ७२ ॥

श्रद्धा से युक्त, तत्त्वान्वेषण में तत्पर, उपदिष्ट किसी भी धर्म के प्रति बिना आसक्त हुए जो कुछ (प्रबुद्ध) लोग (यहाँ निर्दिष्ट) इस प्रतिपत्ति का युक्तिः अनुसरण करते हुए उससे अन्वय के अभिलाषी हो जाते हैं । (वे लोग) भाव और अभाव (दोनों अन्तों) का परित्याग कर (प्रहाण करके) उपशान्त हो जाते हैं ॥ ७२ ॥

इदम्प्रत्ययताज्ञानात् दृष्टिजालविनिर्गतः ।

अस्पृष्टं याति निर्वाणं रागप्रतिघमोद्दहः ॥ ७३ ॥

इस 'इदंप्रत्ययता' को जान लेने से (व्यक्ति-) कुदृष्टि-कल्पना जाल विनिवृत्त हो जाता है । (फलतः) राग, द्वेष और मोह से रहित होकर (वह पुद्गल) अस्पृष्ट^१ निर्वाण में उपपन्न हो जाता है ॥ ७३ ॥

शून्यतासप्ततेवृत्तिः

आचार्यनागार्जुनपादकृता समाप्ता ॥

आचार्य-आर्यनागार्जुन की कृति शून्यतासप्ततिवृत्ति

समाप्त ॥

भारतीयोपाध्यायजिनमित्रेण, (भोटदेशीय) महासम्पादक-भदन्त ज्ञानसेन (येशेस्स्दे) प्रभृतिना च सम्पादितं संशोधितञ्च ॥

(भोटी) अनुवादक—(यह ग्रन्थ संस्कृत से भोटी में) भारतीय उपाध्याय-जिनमित्र और भोट (विद्वान्) शू-छेन् ग्यि-लो-चापा (महा सम्पादक) भदन्त-‘ये-शेस्-स्दे’-(भदन्त ज्ञानसेन) आदि द्वारा निरूपित (अनूदित) और सम्पादित किया गया ।

संस्कृत में पुनरुद्धार एवं हिन्दी अनुवाद

बुद्धाब्द-२५२३]

विक्रम संवत्-२०३८

[सन् १९८१

परिशिष्ट-I

ईश्वरकारित्रनिराकृतिः*

नमो बुद्धाय^१

पादाब्जं च गुरोर्नत्वा वज्रपत्वं च भक्तितः ।

सुशिष्यप्रतिबोधार्थं कृपया लिख्यते मया^२ ॥

अस्ति पुनरीश्वरकर्तृत्वम्, तदेव विचार्यते । यः करोति स एव कर्तृकः । यः क्रियां करोति स करणसंज्ञो भवति । अत्र च वयं ब्रूमः । किमसौ सिद्धं करोति अथासिद्धं वा ?

तत्र सिद्धं तावन्न कुरुते । साधनाभावात् । यथा सिद्धे पुद्गले पुनः कारणत्वं कर्तृत्वं नास्ति; प्रागेव सिद्धत्वात् । अथासिद्धं करोति चेत् । बालुकातैलमसिद्धम् । कूर्मलोमादिकमसिद्धम् । एतदेव करोतु । पुनरत्र कर्तृत्वं न (भवितुं) शक्नोति । कुतः ? असिद्धत्वाद् भावस्य । एवमसौ ।

अथ सिद्धासिद्धं करोति तदपि न घटते । परस्परविरोधात् । यः सिद्धः, सः सिद्ध एव; योऽसिद्धः स एषासिद्धः; एवं तावदनयोः परस्परविरुद्धत्वात् । यथा चालोकान्धकारयोर्वा जीवनमरणयोरिव वा । अथ यत्रालोको विद्यते तत्रान्धकारो नास्ति । यत्रान्ध-

* मूलग्रन्थ में ग्रन्थ का नाम इस प्रकार है—

“ईश्वरकारित्रनिराकृतिः विष्णोरेककर्तृत्वनिराकरणं नाम् ।” पर विष्णु के एक कर्तृत्व के सम्बन्ध में प्रस्तुत ग्रन्थ में कुछ भी नहीं कहा गया है । यह सम्भव है कि इस ग्रन्थ के दो अंश हों और पहले भाग में ईश्वर खंडन और दूसरे में विष्णु के कर्तृत्व का निराकरण हो, पर दूसरा भाग लुप्त हो गया हो । पर समाप्ति में भी यही वाक्य है ।

१. “नमो बुद्धाय”—यह वाक्य ग्रन्थ का अंश नहीं है, यह लोचावा (अनुवादक) का वचन है ।

२. इस मङ्गलाचरण पद को देखकर यह संदेह होता है कि यह रचना नागार्जुन की हैं या नहीं । क्योंकि नागार्जुन के दार्शनिक ग्रन्थों में ‘वज्रसत्त्व’ की वन्दना कहीं भी दृष्टिगत नहीं होती ।

कारस्तत्रालोको नैव । यो हि जीवति स जीवत्येव । यो मृतो मृत एव सः । अत एव सिद्धासिद्धयोरेकत्वाभावात् । ईश्वरस्य कर्तृत्वं नाभिप्रेतमिति^१ मतम् ।

किञ्च अपरमपि दूषणं स्यात् । किं स्वयमुत्पद्य परान्करोति । अनुत्पन्नो वा ? अनुत्पन्नश्च स्वयं तावत् परान् कर्तुं न शक्नोति । कुतः ? स्वयमेवानुत्पन्नरूपत्वात् । यथानुत्पन्नस्य वन्ध्यातनयस्य कुट्टालपातनादिक्रिया न प्रवर्तते । तथा ईश्वरस्यापि ! अथ च स्वयमुत्पद्य परान् करोति ? तदा कस्मादुत्पन्नः ? किं स्वतः, परतः, उभयतो वा ! अत्र स्वतस्तावन्नोत्पन्नः, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । न हि खरतरकरवालः स्वमात्मानमभिच्छेत्तुं समर्थो भवति । न हि सुशिक्षितोऽपि नटवटुः स्वकीयं स्कन्धमारुह्य नर्तितुं शक्नोति ।

किञ्च स्वयमेव जन्यः स्वयमेव जनक इति ? एवं दृष्टमिष्टं वा ? स्वयमेव पिता स्वयमेव पुत्र इति वादो^२ न लोकप्रसिद्धः ।

अथ भवतु परतः, एवमपि न घटते । यावत्ता ईश्वरस्य व्यतिरेकेण परस्याभावात् । अथ भवतु पारस्पर्येण ? एवं च परतोऽप्यनवस्थाप्रसङ्गः स्यात् । अनादिरूपत्वात् । सतो यस्यादेरभावः तस्यावसानस्यापि दूषणेऽभाव एव । बीजस्याभावेऽङ्कुरदण्डशाखालतापुष्पफलादीनामभावो भवति । कुतः ? बीजस्याभावात् ।

नोभयतः । उभयदोषेण दुष्टत्वात् । तस्मादसिद्धः कर्ता इति, ईश्वरकारित्र-निराकृतिः समाप्ता^३ ।

कृतिरियमाचार्यश्रीनागाजुर्नपादानामिति ॥

१. 'भावः'—इति मूल पाठे ।

२. नैष वादो लोकप्रसिद्धः ।—इतिपाठः स्दे—न्ने संस्करण तत्-ग्युर-संग्रह । पृ० ३।१२ । 'पो' पुटे ।

३. यहाँ पर भी मूल ग्रन्थ में 'ईश्वरकारित्रनिराकृतिः विष्णोरेककर्तृत्वनिराकरणं समाप्तमिति'—यही उल्लेख है । इस वाक्य से दूसरी सम्भावना या अर्थ यह भी है कि—“ईश्वरकारित्रनिराकृतिः” अर्थात् ईश्वर के विष्णुत्व = व्यापकता, एकत्व और कर्तृत्व का निराकरण” नामक ग्रन्थ समाप्त है ।

इमं ग्रन्थ में कुल इक्कीस श्लोक और दो पाद हैं । अक्षरों की संख्या कुल छः सौ सोलह है ।

परिशिष्ट—II

श्लोकानुक्रमणी

पृष्ठांक		श्लोक
३६	अनिरुद्धमनुत्पन्नम्	३४
५८	अन्तरायतनम्	५६
१८	अभावेऽसति भावो	१६
३५	अस्तिकर्मस्वकत्वम्	३३
२६	अस्थितेश्च	२६
२	आत्मा कश्चिन्न	२
११	आत्मा नास्ति	९
६८	इदम्प्रतीत्य	७१
६९	इदम्प्रत्ययता	७३
१	उत्पादस्थितिभङ्गाः	१
३१	उत्पादस्थितिः	३०
४६	एकस्मिन्न चतुःसत्त्वं	४६
२८	एतेन कारणम्	२८
५०	कदापि वर्णसंस्थाने	५०
४१	कर्ता निर्मितकेनैव	४२
४२	कर्मकर्ता न	४३
३९	कर्मण्यसति	३८
३८	कर्म प्रत्ययजं	३६
५९	कश्चिन्नित्यो	५८
२६	काचिस्स्थितिर्हि	२६
३६	क्लेशकारणकं	३७
५२	चक्षुः पश्यति	५२
५२	चक्षुः स्वभावतः	५३

पृष्ठांक		श्लोक
६३	चतुर्विपर्ययैः	६२
६९	तत्त्वान्वीक्षारतः	७२
१२	तदभावे न चाविद्या	१०
६७	तन्मात्रः परमार्थो हि	६६
२३	दृष्ट्व निर्वृत्तिः	२३
६	द्वादशाङ्गो	८
५	न जायते यदा	५
५१	न रूपे नापिमध्ये	५१
३४	न सम्नासन्न	३२
२०	न स्वतो नापि परतो	२०
२८	न स्वतो लक्षणं	२७
५७	नास्ति स्वभावसंयोगः	५५
२५	निरोधो यदि	२५
४१	निमिमीते यथा	४०
८	नैकत्वेऽनेकवृत्ति	७
१३	पिता पुत्रो न	१३
१४	प्रतीत्य विषयान्	१४
७	फले स्यात्फलवान्	६
४१	बुद्धनिर्मितकः	४१
४९	बुद्ध्या क्षणिकया	४६
३२	भग्नो न भज्यते	३१
६५	भावशून्यत्वजसजानान्ना	६५
६६	भावः स्वभावतः	६७
१५	भावाः स्वभावतः	१६
४	भावो नोत्पद्यते	४
६५	माया मरीचि	६६
६३	यद्यत्प्रतीत्य	६३

पृष्ठांक		श्लोक
२४	यद्युन्पादनिरोधौ	२४
३६	यदि स्वभावतः कर्म	३५
६१	यस्मिन् रागो	६०
६२	ये विकल्प्या न	६१
४०	योऽपश्यत्कर्म	३९
६०	रागो द्वेषश्च	५९
४४	रूपं चेद् भूततो	४५
४८	रूपस्य ग्रहणं	४८
४६	लिङ्गादिति न	४७
६८	लोकभासनभङ्गो	७०
५८	विज्ञेयापेक्षयो	५७
१७	शून्यत्वे सति	१८
४३	सच्चाप्यस्ति	४४
२१	सतिभावे शाश्वतत्वं	२१
२२	सन्तानात्तन्न	२२
६६	सर्वभावस्वभावानां	६८
१२	संस्कारेऽसत्यविद्या	११
५७	संस्पर्शेन सहैकं	५४
१५	स्वभावाद्धि न	१५
१७	स्वभावपरभावो वा	१७
१३	स्वयं स्वभावतो	१२
६४	हेतुप्रत्ययजा	६४
३	हेतुप्रत्यय सामग्र्यां	३

भाग—II

श्रीः कः वः त्रिः सः वः ।

༄༅། །བྱ་གར་སྐད་དུ་ སྤྱི་ཆུ་མ་ལུ་རྩི་བྱི་རྩི་¹
 བོད་སྐད་དུ་ སྤྱི་བ་ཉིད་བདུན་ཅུ་བའི་འབྲེལ་བ།
 འཕགས་པ་འཇམ་དབལ་ཡེ་ཤེས་སེམས་དབའ་ལ་ཐུག་འཚལ་ཡོ།
 གནས་²པའམ་སྤྱི་འཇིག་ཡོད་མེད་དམ། །
 དམན་པའམ་མཉམ་³པའམ་⁴བྱད་པར་ཅན། །
 སངས་བྱས་འཇིག་རྟེན་⁵ལྷན་⁶དབང་གིས། །
 གསུང་⁷གི་⁸ཡང་དག་དབང་གིས་མིན། ༡ ॥

གནས་པའམ་, སྤྱི་པའམ་, འཇིག་པའམ་, ཡོད་པའམ་, མེད་པའམ་⁹,
 དམན་པའམ་, མཉམ་པའམ་, བྱད་པར་ཅན་ཡང་ཅུང་ཤེ། དེ་ཐམས་
 ཅད་ན་, འཇིག་རྟེན་གྱི་ཐ་སྤྱད་ཀྱི་དབང་གིས་སངས་བྱས་ཀྱིས་¹⁰གསུང་
 གི་, དེ་ཁོ་ན་ཉིད་¹¹ཀྱི་¹²དབང་གིས་ནི་མ་ཡིན་ནོ། ༡ ॥

འདིར་སྒྲུས་པ།- ‘བདག་’ཅེས་བྱ་བ་དེ་ལྟ་བུ་ལ་སོགས་པའི་མངོན་
 པར་བརྗོད་པ་གང་ཡིན་པ་འདི་, ཅི་ནས་མེད་པ་ཞིག་ཡིན་ནམ་, ‘བདག་
 མེད་དོ་’སྒྲུས་པའི་ཁྱོད་གཤུང་འཇུག་པས་, བདག་ནི་གདོན་མི་ཟ་བ་ཁོ་
 ཅར་ཡོད་དོ། འདིར་བཤད་པ་:-

བདག་མེད་བདག་མེད་མིན་བདག་དང་། །

བདག་མེད་མིན་པས་བརྗོད་འགའང་¹³མེད།

ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན།

བརྗོད་པར་བྱ་བའི་ཆོས་རྣམས་ཀྱི་ན། །

སྤྱང་ན་འདས་མཚུངས་རང་བཞིན་སྟོང་¹⁴༥ ॥ ३ ॥

འདིར་སྒྲུས་པ། — དངོས་པོ་ཐམས་ཅད་¹⁵རང་བཞིན་¹⁶སྟོང་༥ ཞེས་བྱ་བ་
འདི་ཅི་ལྟར།¹⁷ རྒྱལ་པོ་འི་བཀའ་ཆོག་གམ་, འོན་ཏེ་གང་གིས་དངོས་པོ་
ཐམས་ཅད་རང་བཞིན་གྱིས་སྟོང་ངོ་ཞེས་བྱ་བ་དེ་ལྟར་ཁོང་དུ་ཆུད་པར་བྱ་བའི་
རིགས་པ་འགའ་¹⁸ཞིག་ཡོད་ཀྱི་ཡོད། ॥ ३ ॥

འདིར་བཤད་པ་:— གང་ཕྱིར་དངོས་པོ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་ །

རང་བཞིན་རྒྱ་རྒྱེན་ཆོག་གས་པའམ། །

སོ་སོ་རྣམས་ལའང་ཐམས་ཅད་ལ¹⁹༥

ཡོད་མིན་དེ་ཕྱིར་སྟོང་བ་ཡིན་²⁰༥ ॥ ३ ॥

གང་གི་ཕྱིར་དངོས་པོ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་རང་བཞིན་, རྒྱུའམ་, རྒྱེན་²¹རྣམས་
སམ་, རྒྱ་རྒྱེན་ཆོག་གས་པའམ་, དངོས་པོ་ཐམས་ཅད་ལའང་²²དུང་སྟེ། ཐམས་
ཅད་ལ་ཡོད་པ་མ་ཡིན་པ་དེའི་ཕྱིར། དངོས་པོ་ཐམས་ཅད་རང་བཞིན་གྱིས་
སྟོང་ངོ་༥ ཞེས་སྒྲུབ་ཀྱི་ཡོད། ॥ ३ ॥

གཞན་ཡང་:—

ཡོད་པ་ཡོད་ཕྱིར་སྟེ་མ་ཡིན་²³༥ །

མེད་ཕྱིར་མེད་པ་²⁴སྟེ་མ་ཡིན་²⁵༥ །

ཆོས་མི་མཐུན་ཕྱིར་ཡོད་མེད་མིན། །

སྟེ་བ་མེད་པས་²⁶,²⁷གནས་འགག་མེད། ॥ ༤ ॥

དངས་པོ་ཡོད་པའི་ཕྱིར་, རྒྱ་ལས་སྐྱེ་བར་མི་འདུར་དེ། ཡོད་པ་ནི་
 ཡོད་བཞིན་པ་, ཞེས་བཤད་པས་སོ། །མེད་པ་ནི་མེད་པའི་ཕྱིར་, རྒྱ་
 ལས་སྐྱེ་བ་མེད་དོ། །ཡོད་མེད་ནི་མི་འདྲ་བའི་ཕྱིར་, སྐྱེ་བ་མ་ཡིན་དེ་ཕན་
 ཚུན་འགལ་ལོ། །(དེ་ཡང་) འདི་རྣམ་ཡོད་པ་དང་མེད་པ་དག་ནི་ཕན་ཚུན་
 འགལ་བའི་ཆོས་ཅན་ཡིན་པས་, ཆོས་མི་མཐུན་པའི་ཕྱིར། ཡོད་པ་ཡང་
 ཡིན་, མེད་པ་ཡང་ཡིན་པ་གཤམ་སྐྱེ།²⁸ སྐྱེ་བ་མེད་པའི་ཕྱིར་, གནས་པ་
 དང་འགག་པ་ཡང་མེད་དོ། ། ཨ །

འདིར་སྐྱུས་པ་— འདུས་བྱས་ཀྱི་མཚན་ཉིད་གསུམ་པོ་, སྐྱེ་བ་དང་།
 གནས་པ་དང་། འཇིག་པ་དང་ལྷན་བར་གསུངས་ལ། སྐྱེ་བའི་ཆོ་སྐྱེ་བ་
 ཡང་ཕྱོན་དེ། དེ་རྩ་བས་ན་འགའ་ཞིག་ལས་འདུས་བྱས་སྐྱེ་བ་ཡོད་དོ། །
 འདིར་བཤད་པ་—

གང་ཞིག་སྐྱེས་དེ་བསྐྱེད་བྱ་མིན། །

མ་སྐྱེས་པ་ཡང་བསྐྱེད་བྱ་མིན། །

སྐྱེ་བཞིན་པ་ཡང་བསྐྱེད་བྱ་མིན། །

སྐྱེས་དང་མ་སྐྱེས་པ་ཡི་ཕྱིར་||²⁹ ལ །||³⁰

དེ་ཞིག་སྐྱེས་པ་ནི་བསྐྱེད་པར་བྱ་བ་མ་ཡིན་ནོ། །ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན།³¹
 སྐྱེས་ཟིན་པའི་ཕྱིར་དེ། སྐྱེས་ཟིན་པ་ནི་བསྐྱེད་པར་བྱ་བ་མ་ཡིན་ནོ། །མ་³²
 སྐྱེས་པ་ཡང་བསྐྱེད་པར་བྱ་བ་མ་ཡིན་དེ། ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན།³³ མ་སྐྱེས་
 པའི་ཕྱིར་རོ། །གང་མ་སྐྱེས་པ་དེ་ནི་བསྐྱེད་པར་བྱ་བ་མ་ཡིན་དེ། བྱ་བ་
 དང་བྲལ་བ་དང་། མཐུ་མེད་པ་དང་། ཡོད་པ་མ་ཡིན་པ་དེའི་ཕྱིར་,

བསྐྱེད་པར་བྱ་བ་མ་ཡིན་ནོ།

སྐྱེ་བཞིན་34པ་ཡང་བསྐྱེད་པར་བྱ་བ་མ་ཡིན་ཏེ། ཅིའི་སྤྱོད་ཞེ་ན། དེ་
ནི་སྐྱེས་པ་དང་མ་སྐྱེས་པར་ཟད་ལ། སྐྱེས་པ་དང་མ་སྐྱེས་པ་གང་ཡིན་པ་དེ་
ཡང་, སྤར་བཤད་བའི་རིམ་པ་ཁོ་ནས་བསྐྱེད་པར་བྱ་བ་མ་ཡིན་ཏེ། དེ་
ལ་རེ་ཞིག་སྐྱེས་པ་ནི་སྐྱེས་ཟིན་བའི་སྤྱིར་, བསྐྱེད་པར་བྱ་བ་མ་ཡིན་
ནོ། །ཁ་སྐྱེས་པ་གང་ཡིན་པ་དེ་ཡང་མ་སྐྱེས་པའི་སྤྱིར་དང་། སྐྱེ་བའི་བྱ་
བ་དང་བྲལ་བའི་སྤྱིར་དང་། མཐུ་མེད་བའི་སྤྱིར་དང་། མེད་བའི་སྤྱིར་,
བསྐྱེད་པར་བྱ་བ་མ་ཡིན་ནོ། །དེ་ལྟ་བུས་ན་གང་གི་སྤྱིར་, སྐྱེས་པ་དང་མ་
སྐྱེས་པ་ལས་མ་གཏོགས་པ་གཞན་གསུམ་པ་སྐྱེ་བཞིན་36པ་དེ་ནི་ཅི་ཡང་...
མེད་པ་དེའི་སྤྱིར་ཡང་(དེ་) 7བསྐྱེད་པར་བྱ་བ་མ་ཡིན་ནོ། ། ༥ ||

གཞན་ཡང་, ལྷ་མི་འཕྲད་བའི་སྤྱིར་ཡང་སྐྱེ་བ་མེད་པ་ཡིན་ནོ། ཅིའི་སྤྱོད་ཞེ་ན་-

འབྲས་བུ་ཡོད་པས་འབྲས་ལྡན་རྒྱ།38 |

དེ་མེད་ན་ནི་རྒྱ་མིན་མཚའས་39 |

ཡོད་མིན་མེད་པ་ཡིན་ན་འགལ་40 |

དུས་གསུམ་ནས་ས་སྤང་འཕྲད་མ་41ཡིན། ། ༥ ||

འབྲས་བུ་ཡོད་ན་, འབྲས་བུ་ལྡན་པ་དེ་རྒྱ་ཡིན་ནོ། །འབྲས་བུ་42མེད་ན་ནི་,
དེ་རྒྱ་43,44མ་ཡིན་པ་དང་མཚའས་པར་འགྱུར་རོ། །འབྲས་བུ་ཡོད་པ་ཡང་
མ་ཡིན་མེད་པ་ཡང་མ་ཡིན་པ་ནི་འགལ་ཏེ། མེད་པ་དང་ཡོད་པ་དུས་གཅིག་
ཁོ་ནར་45ཡོད་པ་ནི་མ་ཡིན་ནོ། |

གཞན་ཡང་, དུས་གསུམ་དུ་ཡང་(རྒྱ་)རྒྱར་འཕྲད་པ་མ་ཡིན་ནོ། |

ཇི་ལྟར་ 46 ཞེན། རེ་ཞིག་གཤའ་དྲི་རྒྱ་ལྟ་བུར་བརྟུག་ 47 མ་ཅི་ (དེ) གང་གི་རྒྱ་
 ཡིན? འོན་དེ་ཕྱི་བར་ 48 བརྟུག་མ་ཅི་, རྒྱ་ཁྲིམ་པ་ལ་རྒྱ་ཅི་དགོས། འོན་
 དྲི་རྒྱ་དང་འབྲས་བུ་ཅིག་ཅར་ 49 ཡིན་པར་བརྟུག་མ་ཅི་, རྒྱ་དང་འབྲས་བུ་ཅིག་
 ཅར་སྐྱེས་པ་གཉིས་གང་གི་རྒྱ་གང་ཡིན? གང་གི་འབྲས་བུ་གང་ཡིན? རེ་
 ལྟར་དུས་གསུམ་ཅར་ 50, 51 ཡང་རྒྱ་མི་འབྲན་དེ་ 52 ། ཅ །

འདིར་སྒྲུབ་པ་— བྱངས་འཐད་པའི་ཕྱིར་, དངོས་པོ་ཐམས་ཅད་སྟོང་
 པ་མ་ཡིན་ན། གཅིག་དང་གཞིས་དང་མང་པོ་ཞེས་བྱ་བའི་བྱངས་གང་དག་
 ཡིན་པ་འདི་ནི་ཡོད་ནོ། །བྱངས་ཀྱང་དངོས་པོ་རྣམས་ཡོད་ན་འཐད་པས་53
 རེདི་ཕྱིར་དངོས་པོ་ཐམས་ཅད་སྟོང་པ་མ་ཡིན་ནོ།

འདིར་བཤད་པ་།—

གཞིག་མེད་པར་ནི་མང་བོ་དང་།

མང་པོ་མེད་པར་གཅིག་མི་འདུག།

དེ་ཕྱིར་རྟོག་ཅིང་འབྲེལ་འདྲུང་54བའི། །

དང་ས་བོ་མཚན་མ་མེད་པ་ཡིན་པ་55 || བ ||

གང་གི་ཕྱིར་, གཅིག་མེད་ན་མང་པོ་མི་འཇུག་ལ། མང་པོ་མེད་ན་
ཡང་གཅིག་མི་འཇུག་པ་དེའི་ཕྱིར། དངོས་རོ་རྒྱུ་མ་ནི་56འདྲིན་ནས་འདྲུང་
བ་ཡིན་ལ། དེ་ཉིད་ཀྱི་ཕྱིར་མཆོག་མ་མེད་པ་ཡིན་ནོ། ༥ ॥

འདྲི་སྒྲུབ་པ་—མདོ་སྒྲུབ་སྒྲུབ་པ་, དེ་ནི་མེད་པའི་མེད་པ་ལྟར་བསྒྲུབ་པ་སྒྲུབ་པ་
 གྱི་འབྲས་ལྷན་པར་བྱས་པར་བསྒྲུབ་པ་ 57, 58། ལྷན་འབྲེག་སྒྲུབ་པ་གྱི་དྲ་
 བའི་སྒྲུབ་དཔེ་ནི་ལྷན་པར་བྱས་པ་, 59 མེད་པ་བཅུག་དང་མེད་པ་ལྟར་དྲ་བ་ལ་

བཟུན་60དེ། དེ་ལྟ་བུ་ན་, དངོས་པོ་ཐམས་ཅད་སྤོང་བ་མ་ཡིན་ནོ།

འདིར་བཤད་པ་—

དེ་ན་འབྱུང་ཡན་ལག་བཅུ་གཉིས་གང་། །

རྩལ་བསྐལ་འབྲས་ཅན་དེ་མ་སྦྱེས། །

སེམས་གཅིག་ལ་ཡང་མི་འཐད་61ལ། །

དུ་མ་ལ་ཡང་མི་འཐད་62, 63དོ། ་ ༥ །

དེ་ན་ཅིང་འབྲེལ་བར་འབྱུང་བའི་ཡན་ལག་བཅུ་གཉིས་ལ་, རྩལ་བསྐལ་འབྲས་བྱ་ཅན་གང་ཡིན་པ་དེ་ནི་མ་སྦྱེས་64པའོ།

དེ་ནི་སེམས་གཅིག་ལ་ཡང་མི་འཐད་ལ། མང་བོ་ལ་ཡང་མི་འཐད་དེ།
གང་གི་ལྟར་ན་, སེམས་གཅིག་ཡིན་པ་དེའི་ལྟར་ན་འབྲས་བྱ་རྒྱ་དང་ལྷན་ཅིག་
སྦྱེས་པར་འགྱུར་རོ། གང་གི་ལྟར་ན་སེམས་ཐ་དད་པ་ཡིན་པ་དེའི་ལྟར་
ན་ཡང་, ཡན་ལག་སྐུ་མ་སྐུ་མ་ཞིག་པ་ཕྱི་མ་ཕྱི་མའི་རྒྱ་མ་ཡིན་ནོ། །དེ་ལྟ་
བུ་ན་, གཉིས་ཀ་65ལྟར་ཡང་མི་འཐད་པ་དེའི་ཕྱིར་, དེ་ན་ཅིང་འབྲེལ་བར་
འབྱུང་བ་ནི་མ་སྦྱེས་པ་ཡིན་ནོ། །ཅིའི་ཕྱིར་མི་སྦྱེ་ཞེ་66ན་? འདི་ལ་དེ་ན་
ཅིང་འབྲེལ་བར་འབྱུང་བ་ནི་, མ་རིག་པའི་རྒྱ་ལས་བྱུང་བར་བདག་ས་67, 68
ལ། མ་རིག་པ་དེ་ཡང་69ཀྱིན་ཕྱིན་ཅི་ལོག་པར་70སྟོན་དེ། ཕྱིན་ཅི་ལོག་
དེ་དག་ཀྱང་རང་བཞིན་གྱིས་སྤོང་བ་ཡིན་པའི་ཕྱིར་རོ། ་ ༥ །

ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན་—

དྲག་མིན་མི་དྲག་མིན་བདག་དང་། །

བདག་མིན་གཙང་མིན་མི་གཙང་མིན། །

བདེ་མེན་སྤྱག་བསྐལ་མ་ཡིན་དེ། |

དེ་ཕྱིར་ཕྱིན་ཅི་ཡོག་ནམས་མེད།71 || ༡ ||

མི་དྲག་བ་ནི་དྲག་བ་མེད་པའོ། |དྲག་བ་མེད་ན་དེའི་གཉེན་པོར་གྱུར་བ་
མི་དྲག་བ་ཡང་མེད་དོ། |དེ་བཞིན་དུ་ལྷག་མ་ནམས་ལ་ཡང་སྤར་72རོ། |
དེ་ལྟ་བུས་ན་ཕྱིན་ཅི་ཡོག་ནགས་མེད་དོ། ༡ ||

དེ་མེད་ན་ནི་ཕྱིན་ཅི་ཡོག་ |

བཞི་ལས་སྦྱེས་པའི་མ་རིག་མེད། |

དེ་མེད་ན་ནི་འདུ་བྱེད་ནམས། |

མི་འབྱུང་ལྷག་མཁའ་དེ་བཞིན་ནི73|| ༡༠ ||

ཕྱིན་ཡོག་དེ་དག་མེད་ན་, དེ་ལས་སྦྱེས་པའི་མ་རིག་བ་མེད་ལ། མ་
རིག་བ་མེད་ན་འདུ་བྱེད་ནམས་མི་འབྱུང་སྟེ། ལྷག་མ་ཡང་དེ་དང་འདྲའོ།74||

གཞན་ཡང་:—

མ་རིག་འདུ་བྱེད་མེད་མི་འབྱུང་། |

དེ་མེད་འདུ་བྱེད་མི་འབྱུང་བས།74 |

དེ་གཉིས་པན་ཚུན་གྱི་ཕྱིར་ཡང་། |

རང་བཞིན་གྱིས་ནི་གྲུབ་75མ་ཡིན།76 || ༡༡ ||

གང་ཞིག་བདག་ཉིད་རང་བཞིན་གྱིས། |

མ་གྲུབ་དེ་གཞན་77ཇི་ལྟར་བསྐྱེད། |

དེ་ཕྱིར་གཞན་ལས་78་གྲུབ་བ་ཡིས།79|

རྒྱུན་གཞན་དག་ན་སྦྱེད་བྱེད་མིན་80 || ༡༢ ||

རེ་ཞིག་མ་རིག་པ་ནི་འདྲ་བྱེད་མེད་ན་མི་འབྱུང་ངོ་། །མ་རིག་པ་དེ་
 མེད་པར་ཡང་འདྲ་བྱེད་ནམས་མི་འབྱུང་སྟེ། དེ་གཉིས་81པན་ཚུན་གྱུ་ལས་
 བྱུང་བ་ཡིན་པའི་ཕྱིར་ཡང་རང་བཞིན་གྱིས་མ་གྲུབ་པ་ཡིན་ནོ། །གང་ཞིག་
 བདག་ཉིད་རང་བཞིན་གྱིས་མ་གྲུབ་པ་དེས་གཞན་ཇི་ལྟར་བསྐྱེད། དེ་ལྟ་
 བས་ན་པ་རྒྱུ་མ་གྲུབ་པའི་རྒྱུ་ནམས་ནི་, གཞན་སྐྱེད་པར་བྱེད་པ་དག་མ་
 ཡིན་ནོ། ༡༢ །

གཞན་ཡང་:—

པ་ནི་བྱ་མིན་བྱ་པ་མིན།82 །

དེ་གཉིས་པན་ཚུན་མེད་མིན་ལ། །

དེ་གཉིས་ཅིག་ཅར་ཡང་མིན་ལྟར། །

ཡན་ལག་བཅུ་གཉིས་དེ་བཞིན་ནོ། ༡༣ །

རེ་ཞིག་པ་ཡང་བྱ་མ་ཡིན་ལ་, བྱ་ཡང་པ་མ་ཡིན་ནོ། །དེ་གཉིས་83
 པན་ཚུན་མེད་པ་84ཡང་མ་ཡིན་ལ། དེ་གཉིས་ཅིག་ཅར་ཡང་མ་ཡིན་ནོ། །
 ཇི་ལྟར་རིམ་པ་འདིས་པ་དང་བྱ་དག་མ་གྲུབ་པ་ལྟར་, ཉིན་ཅིང་འབྲེལ་བར་
 འབྱུང་བ་ཡན་ལག་བཅུ་གཉིས་ཀྱང་དེ་དང་འབྲེལ། ༡༤ །

གཞན་ཡང་:—

མི་ལས་ཡུལ་བརྟེན་བདེ་སྤྱད་དང་། །

ཡུལ་དེའང་མེད་ལྟར་བརྟེན་ནས་གང་། །

འབྱུང་བ་དེ་ཡང་དེ་བཞིན་མེད། །

བརྟེན་ནས་གང་ཡིན་དེ་ཡང་མེད་86། ༡༥ །

དཔེར་ན་མི་ལམ་ན་ཡུལ་ལ་བརྟེན་བའི་བདེ་བ་དང་། རྒྱལ་བརྒྱལ་མེད་
བ་དང་། རི་ལྷོ་ཡུལ་ཡང་ཡོད་པ་མ་ཡིན་པ་དེ་ལྟར་། བརྟེན་ནས་རྒྱལ་བ་
གང་ཡིན་པ་དེ་དང་། བརྟེན་ནས་གང་ཡིན་པ་དེ་ཡང་དེ་བཞིན་དུ་མེད་དོ། ༡༧ ॥

འདྲིར་སྒྲུབ་པ་ལ་—

གཤམ་དེ་དངོས་ནམས་རང་བཞིན་གྱིས། |

མེད་ན་དམན་མཉམ་ཁུད་འཕགས་ཉིད། |

ཡོད་མེན་སྒྲུབ་ཚོགས་ཉིད་མི་འགྲུབ། |

རྒྱལ་མས་མངོན་པར་གྱུབ་87བ་མེད། 88 | ༡༧89 |

དེ་ལྟ་བུས་ན་དངོས་པོ་ནམས་རང་བཞིན་གྱིས་མེད་དོ། ཞེས་བྱ་བ་དེ་90
མི་རུང་དོ། ༡༧ ॥ འདྲིར་བཤད་པ་ལ་—

རང་བཞིན་གྱུབ་བརྟེན་དངོས་མིན་འགྲུར། |

མ་བརྟེན་པར་ཡང་གཤམ་ཡོད། |

རང་བཞིན་མེད་ཉིད་མི་འགྲུར་ཞིང་། |

རང་བཞིན་ཡོད་པ་མི་འཇོག་གོ། 91 ༡༩ ॥

གཤམ་དེ་དངོས་པོ་ནམས་རང་བཞིན་གྱིས་ཡོད་པར་གྱུར་ན་། བརྟེན་ནས་
དངོས་པོར་མི་འགྲུར་དོ། །དེ་ལ་འདྲི་སྒྲུབ་དུ་མ་བརྟེན་པར་ཡང་དངོས་པོ་
ཡིན་དུ་ཟད་མོད་སྒྲུབ་དུ་སེམས་ན། འདྲིར་བཤད་པ། མ་བརྟེན་པར་ཡང་
གཤམ་ཡོད། |

མ་བརྟེན་པར་ཡང་དངོས་པོར་མི་འགྲུར་དོ། །གཤམ་དེ་མ་བརྟེན་པར་
ཡང་དངོས་པོ་ཞིག་དུ་འགྲུར་ན་། རང་བཞིན་མེད་པ་ཉིད་དུ་མི་འགྲུར་ཞིང་།

རང་བཞིན་ཡོད་པར་ནི་འཛིག་པར་ཡང་མི་འགྱུར་དེ། མེད་པོ་2པར་མི་འགྱུར་
རོ།, ཞེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ། ༡༩ ॥

འདྲིར་སྒྲུས་པ་:— རང་གི་དངོས་པོ་དང་། གཞན་གྱི་དངོས་པོ་དང་།
དངོས་པོ་དང་93། དངོས་པོ་མེད་པ་, ཞེས་བྱ་བའི་སྒྲོ་འདྲི་རྟེན་མེད་94པ་
མ་ཡིན་དེ། དེ་ལྟ་བུས་ན་དངོས་པོ་སྐྱེས་སྤོང་པ་མ་ཡིན་ནོ། ।

འདྲིར་བཤད་པ་:—

མེད་ལ་རང་གི་དངོས་པོ་འཇམ། ।

གཞན་དངོས་འཛིག་95པར་གཤམ་འགྱུར། ।

དེ་ཕྱིར་གཞན་དངོས་དངོས་མེད་དང་96། ।

དངོས་དང་རང་དངོས་ལོག་པ་ཡིན་97། ༡༡ ॥

‘མེད་པ་ལ’ཞེས་བྱ་བ་ནི་, ཡོད་པ་མ་ཡིན་པ་ལ་, ཞེས་བཤད་པ་
ཡིན་དེ། མེད་པ་དེ་ལ་, རང་གི་དངོས་པོ་ཞེས་བྱ་བ་འཇམ་, གཞན་གྱི་
དངོས་པོ་ཞེས་བྱ་བ་འཇམ་, འཛིག་པ་ཞེས་བྱ་བར་ལྟ་གཤམ་འགྱུར། དེའི་
ཕྱིར་, རང་གི་དངོས་པོ་98དང་། གཞན་གྱི་དངོས་པོ་དང་། དངོས་པོ་མེད་
པ་དང་། དངོས་པོ་འདྲི99རང་གི་དངོས་པོ་(ངོ་བོ་)ནི་ལོག་པ་ཡིན་ནོ།100། ༡༢ ॥

འདྲིར་སྒྲུས་པ་:—

གཤམ་དེ་དངོས་པོ་སྤོང་ཡིན་ན། ।

འགག་པར་མི་འགྱུར་སྒྲེ་མི་འགྱུར་101། ।

ངོ་བོ་ཉིད་ཀྱིས་102སྤོང་པ་ལ། ।

གཤམ་ལ་འགག་ཅིང་གཤམ་ལ་སྒྲེ། ༡༢ ॥

གལ དེ དངོས་པོ་རང་བཞིན་གྱིས་103 ལྟོང་བ་ཡིན་དུ་ཟིན་ན་, འགག་
 བར་མི་འགྱུར་ཞིང་། སྐྱེ་བར་ཡང་མི་འགྱུར་རོ། ཅི་སྐྱེ་རང་བཞིན་གྱིས་
 ལྟོང་བ་ལ་སྐྱེ་བ་དང་འགག་བར་འདོད་ན་ནི་104, འདིར་ངོ་བོ་ཉིད་ཀྱིས་
 ལྟོང་བ་ལ་, གང་ལ་འགག་ཅིང་གང་ལ་སྐྱེ་ཞེས་སྒྲུའོ། ༡༥ ॥

འདིར་བཤད་པ་:—ཆོས་ཐམས་ཅད་ནི་ལྟོང་བ་ཁོ་ན་ཡིན་ནོ། ཁིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན།

དངོས་དང་དངོས་མེད་གཅིག་ཅར་མེད། ।

དངོས་མེད་མེད་པར་དངོས་པོ་མེད། ।

དྲག་དུ་དངོས་དང་དངོས་མེད་འགྱུར། ।

དངོས་མེད་དངོས་པོ་མེད་མི་འགྱུར་༥105 ॥ ༡༦ ॥

དངོས་པོ་དང་། དངོས་པོ་མེད་པ་དག་ཅིག་ཅར་བ་ཡང་མེད་དོ། ।

ཇི་སྐད་དུ་བཤད་པ་ཡིན་ཞེ་ན? དངོས་པོ་དང་དངོས་པོ་མེད་པ་གཉིས་དུས་
 གཅིག་ན་མི་སྤྲིད་རོ་, ཞེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ།

དེ་ལ་འདི་སྒྲམ་དུ་, དངོས་པོ་གཅིག་སུ་ཡིན་དུ་ཟད་མོད་སྒྲམ་དུ་སེམས་ན་,
 འདིར་བཤད་པ། དངོས་མེད་མེད་པར་དངོས་པོ་མེད། །གང་གི་ཕྱིར་106
 དངོས་པོ་མེད་པར་107 དངོས་པོ་མི་འཐད་དོ། །མི་དྲག་པ་ཉིད་མེད་པར་
 དེ་མེད་དོ། །གཞན་ཡང་། དྲག་དུ་དངོས་དང་དངོས་མེད་འགྱུར། ।
 དྲག་དུ་དངོས་པོ་དང་མི་དྲག་པ་ཉིད་དུ་འགྱུར་རོ། །དེ་ལ་འདི་སྒྲམ་དུ་, དེ་
 འདི་ལྟར་ཡིན་དེ། དྲག་དུ་དངོས་པོ་མི་དྲག་པ་ཉིད་108ནི་, དྲག་དུ་དངོས་
 པོ་འི་རྗེས་སུ་འབྲེལ་ལ། སྐྱེ་བའི་ཆོའམ་གནས་པའི་ཆོའི་, ལས་མི་བྱེད་ཀྱི།
 དངོས་པོ་འཇིག་པའི་ཆོ དངོས་109པོ་འཇིག་པར་བྱེད་དོ་, སྒྲམ་དུ་སེམས་ན།

འདིར་བཤད་པ་— དངོས་མེད་དངོས་པོ་མེད་མི་འབྱུང་། །དངོས་པོ་
 མེད་པར་དངོས་པོ་མེད་པ་ཡོད་པ་མ་ཡིན་ནོ། །གང་གི་ཕྱིར་, འཇིག་
 པ་མེད་ན་110, འཇིག་པའི་མཚན་ཉིད་མི་ཉལ་པ་ཉིད་མི་རུང་སྟེ། མི་འཇིག་
 ན་མི་ཉལ་པ་ཉིད་ཅེས་བྱ་བ་མི་འཐད་པ་ཉིད་ཀྱི་ཕྱིར། ཉལ་དུ་དངོས་པོ་
 མེད་111པ་ཁོ་ནར་འགྱུར་ངོ་112༥ ༡༩ ॥

འདིར་སྒྲུས་པ། དངོས་པོ་མེད་པ་གཅིག་བྱ་ཡིན་དུ་ཟད་མེད་?

འདིར་བཤད་པ་—

དངོས་པོ་མེད་པར་དངོས་མེད་མིན་113༥ |

བདག་ལས་མ་ཡིན་གཞན་ལས་མིན། |

དེ་ལྟ་བུས་ན་དངོས་པོ་མེད། |

དེ་མེད་ན་ནི་དངོས་མེད་མེད་114༥ ༢༠ ॥

དངོས་པོ་མེད་པར་ནི་, དངོས་པོ་མེད་པ་མེད་ལ། །དངོས་པོ་དེ་
 ཡང་བདག་ལས་མ་ཡིན་གཞན་ལས་མ་ཡིན་ནོ། །དེ་ལྟ་བུས་ན་གང་གི་ཕྱིར།
 དེག་པ་འདིས་ཡོད་པ་མ་ཡིན་པ་དེའི་ཕྱིར། དངོས་པོ་མེད་པ་ནི་མ་སྒྲུས་པ་
 ཡིན་115ནོ་, ཞེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ། །དེ་མེད་ན་ནི་དངོས་མེད་མེད། |
 དངོས་པོ་དེ་མེད་ན་, དངོས་པོ་དེ་མེད་པ་ཡང་མེད་དེ། །དངོས་པོ་དེའི་
 དངོས་པོ་མེད་པའང་མི་སྤྲད་དོ་, ཞེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ༥ ༢༠ ॥

གཞན་ཡང་—

དངོས་པོ་ཡོད་པ་ཉིད་ན་ཉལ། |

མེད་ན་ངེས་པར་ཆད་པ་ཡིན། |

དངོས་པོ་ཡོད་ན་དེ་གཉིས་འགྱུར་116། . ।

དེ་ཕྱིར་དངོས་པོ་ཁས་སྒྲངས་མིན་117། ༣༡ ॥

གང་གི་ཕྱིར་, དངོས་པོ་ཡོད་པ་ཉིད་ཡིན་ན་ནི་, ཉག་པར་ཐལ་བར་
འགྱུར་ལ། མེད་པ་ཉིད་ན་ནི་, དེས་པར་ཆད་པར་ཐལ་བར་འགྱུར་དེ།
དངོས་པོ་ཡོད་ན་དེ་གཉིས་སུ་ཐལ་བར་འགྱུར་118བ་དེའི་ཕྱིར། དངོས་པོ་
ཁས་སྒྲངས་བར་མི་ཕྱེ། ༣༢ ॥

འདྲིར་སྒྲས་པ་:—

རྒྱན་གྱི་ཕྱིར་ན་དེ་མེད་དེ། ।

རྒྱན་བྱིན་ནས་ནི་དངོས་པོ་འགག།

སྐྱེ་བ་དང་འཇིག་པའི་རྒྱན་གྱི་ཕྱིར། ཉག་པ་དང་ཆད་པ་119གཉིས་
ཀར་མི་འགྱུར་དེ། རྒྱ་བྱིན་ནས་དངོས་པོ་འགག་པར་འགྱུར་རོ།

འདྲིར་བཤད་པ་:—

སྐྱ་མ་བཞིན་དུ་འདྲི་མ་གྲུབ་120། ।

རྒྱན་ཆད་པ་ཡི་ཉེས་པའང་ཡོད། ༣༣121།

ཁོ་བོ་ཅག་ནི་, སྐྱར་དངོས་པོ་དང་དངོས་པོ་མེད་པ་གཉིས་ཅིག་ཅར་
དུ་མི་སྤྲོད་དོ་, ཞེས་བཏགས་ཟིན་དེ། དེའི་ཕྱིར་, རྒྱན་ཞེས་ཁས་ལེན་པ་
གང་ཡིན་པ་དེ་ཡང་, སྐྱ་མ་ཁོ་ན་བཞིན་དུ་མ་གྲུབ་པ་ཡིན་ན། །གཞན་ཡང་
རྒྱན་ཆད་པའི་ཉེས་པའང་ཡོད་པར་ཐལ་བར་འགྱུར་རོ། ༣༣ ॥

འདྲིར་སྒྲས་པ་:—

སྐྱེ་འཇིག་ག་ཟིགས་པས་སྐྱ་ངན་འདས་122། ।

ལས་བཟུན་ལྟོང་ཉིད་ཕྱིར་སྐྱོད་ཡིན། །

སྐྱེ་བ་དང་འཇིག་པ་གཟེགས་ནས་, ཟུང་ན་ལས་འདས་པའི་ལས་
བཟུན་གྱི། ལྟོང་བ་ཉིད་ཀྱི་ཕྱིར་ནི་སྐྱོད་ཡིན་ནོ། །

འདྲིར་བཤད་པ་—

འདྲི་དག་པམ་ཚུན་བརྒྱུག་ཕྱིར་དང་། །

ལོག་པའི་ཕྱིར་ན་མཐོང་123བ་ཡིན་124༥ ༢༢ ༥

རེ་ཞིག་བཤད་པ་, འདྲི་ནི་, གང་ས་སྐྱེས་པ་ཤེས་པ་དེའི་སྐྱོད་ཡིན་གྱི།
གང་སྐྱེ་བ་དང་འཇིག་པ་མཐོང་གི་, སྐྱེ་བ་ཡང་འཇིག་པ་ལས་བརྒྱུག་པར་.....
མཐོང་། འཇིག་པ་ཡང་སྐྱེ་བ་ལས་བརྒྱུག་པར་མཐོང་བ་དེའི་སྐྱེ་བ་དང་,
འཇིག་པ་125གཉིས་པམ་ཚུན་བརྒྱུག་པ་ཡིན་པའི་ཕྱིར་དང་། ཤེས་པ་ཡང་
བརྒྱུག་པ་ཡིན་པའི་ཕྱིར་, སྐྱེ་བ་དང་འཇིག་པར་མཐོང་བ་ཡིན་ནོ།

གང་གི་ཕྱིར་, སྐྱེ་བ་ལ་བདེན་ནས་འཇིག་པ་དང་། འཇིག་པ་ལ་བདེན་
ནས་སྐྱེ་བ་ཡིན་པ་དེའི་ཕྱིར་ཡང་ལྟོང་བ་ཉིད་ཁོ་ན་ཡིན་ནོ། ༢༢ ༥

འདྲིར་བཤད་པ་—

གལ་ཏེ་སྐྱེ་དང་འགག་མེད་ན། །

ཅི་ཞིག་འགག་པས་126ཟུང་ན་འདས་127༥ །

གལ་ཏེ་སྐྱེ་བ་ཡང་མེད་, འགག་པ་ཡང་མེད་ན། གང་ཞིག་འགག་
པས་128ཟུང་ན་ལས་འདས་པར་འགྱུར་? འདྲིར་བཤད་པ་—

གང་ཞིག་རང་བཞིན་སྐྱེ་མེད་ཅིང་། །

འགག་མེད་གང་དེ་ཐར་མིན་ནས་129༥ ༢༣ ༥

གང་རང་བཞིན་གྱིས་སྦྱོར་བ་མེད་པ་དང་130། འགག་བ་མེད་པ་དེ་ཐར་
བ་མ་ཡིན་ནས། 30 ॥

གཞན་ཡང་—

གལ་དེ་སྦྱ་ངན་འདས་འགོག་ཆད། 1

གལ་དེ་ཅིག་གོས་ལྟར་131ན་དྲག 1

དེ་ཕྱིར་དངོས་དང་དངོས་མེད་མིན། 1

སྦྱོར་བ་མེད་འགག་བ་མེད་པ་ཡིན་132། 31 ॥

གལ་དེ་སྦྱ་ངན་ལས་འདས་བ་འགོག་བ་ཡིན་ན་, ཆད་པར་ཐལ་བར་
འབྱུར་རོ། །ཇི་ལྟར་འགོག་བ་མ་ཡིན་ན་ནི་དྲག་པར་ཐལ་བར་འབྱུར་རོ། །
དེ་ལྟ་བུས་ན་སྦྱ་ངན་ལས་འདས་བ་ནི་དངོས་པོ་དང་དངོས་པོ་མེད་པ་མ་ཡིན་
གྱི་, སྦྱོར་བ་མེད་ཅིང་འགག་བ་མེད་པ་དེ་ལྟ་བུ་ནི་133སྦྱ་ངན་ལས་འདས་བ་
ཡིན་ནོ། 32 ॥

འདིར་སྦྱས་པ་—འགོག་བ་ནི་ཡོད་དེ་, དེ་ཡང་དྲག་དྲུག་ནས་བ་ཡིན་ནོ་, ཞེ་ན་
འདིར་བཤད་པ་—

གལ་དེ་འགོག་134པ་འགའ་གནས་ཡོད། 1

དངོས་མེད་པར་ཡང་དེར་135འབྱུར་རོ136། 1

གལ་དེ་འགོག་བ་འགའ་ཞིག་གནས་པར་འབྱུར་ན་, དེའི་ཆོ་དངོས་པོ་
མེད་པར་ཡང་འབྱུར་དེ། མ་བདེན་137པར་ཡང་འབྱུར་རོ་, ཞེས་བཤད་
བ་ཡིན་ནོ། །དེ་ཡང་རིགས་བ་མ་ཡིན་དེ།

དངོས་མེད་པར་ཡང་དེ་མེད་དེ། 1

དངོས་མེད་མེད་པར་ཡང་དེ་མེད་138|| ༣༩ ||

དངོས་པོ་མེད་པ་དང་དངོས་པོ་མེད་པ་གཉིས་139ཀ་རྩེ་ཡང་འགོག་
པ་དེ་མེད་དོ། །ཇི་སྐད་བཤད་པ་ཡིན་ཞེ་ན་དངོས་140པོ་མེད་པར་ཡང་།
དངོས་པོ་མེད་པ་མེད་པར་ཡང་། དངོས་པོ་ལ་མ་བརྟེན་པར་ཡང་། དངོས་
པོ་མེད་པ་ལ་མ་རྟེན་པར་ཡང་། ཞེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ། ༣༩ ||

འདིར་སྒྲུབ་པ་ལ་—

མཚན་གཞི་དང་མཚན་ཉིད་འབྲེལ་བའི་སྒྱིར་, དངོས་པོ་ནམས་ནི་
ཡོད་དོ་ (ཞེ་ན་)? འདིར་བཤད་པ་ལ་—

མཚན་གཞི་ལས་མཚན་གྲུབ་མཚན་ལས། |

མཚན་གཞི་གྲུབ་སྟེ་རང་མ་གྲུབ། |

གཅིག་ལས་གཅིག་ཀྱང་མ་གྲུབ་སྟེ་141| |

མ་གྲུབ་མ་གྲུབ་སྒྲུབ་བྱེད་མིན། ༣༠ ||

མཚན་ཉིད་ཀྱང་མཚན་གཞི་ལས་གྲུབ་ལ། མཚན་གཞི་ཡང་མཚན་ཉིད་
ལས་གྲུབ་པ་ལས་, རང་གིས་གྲུབ་པ་མ་ཡིན་ནོ། །གཅིག་ལས་གཅིག་ཀྱང་
མ་གྲུབ་སྟེ། བན་ཚན་1+2ཡང་མ་གྲུབ་པོ། ཞེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ། |

གང་གི་སྒྱིར་, རིམ་བཤུར་འདིས་མཚན་གཞི་དང་མཚན་ཉིད་གཉིས་གྲུབ་པ་
མེད་པ་དེའི་སྒྱིར་, མཚན་གཞི་དང་། མཚན་ཉིད་མ་གྲུབ་སྟེ། དངོས་པོ་
འདི་དག་གྲུབ་པར་བྱེད་143པ་མ་ཡིན་ནོ། ༣༠ ||

འདིས་ནི་རྒྱ་དང་འབྲས་སྒྲ་དང་། |

ཚོར་བཅས་144ཚོར་བ་པོ་སོགས་དང་། |

ལྷ་བོ་བཟླ་བྱ་སོགས་¹⁴⁵ཅིའང་རྒྱང་། །

དེ་ཀླུ་མ་ལུས་བཤད་པ་ཡིན། ༣༤ །

འདྲིར་སྒྲུས་པ་—དུས་རིག་པ་དག་, དུས་ནམ་པ་དུ་མར་སེམས་དེ¹⁴⁶

དེ་ལྷ་བས་ན་དུས་ནི་ཡོད་དོ(ཞེ་ན) འདྲིར་སྒྲུས་པ་¹⁴⁷—

མི་གནས་པན་ཚུན་གྲུབ་ཕྱིར་དང་། །

འཛོལ་ཕྱིར་བདག་ཉིད་མ་གྲུབ་ཕྱིར་¹⁴⁸། །

དངོས་པོ་མེད་ཕྱིར་དུས་གསུམ་ནི། །

ཡོད་པ་མ་ཡིན་དོག་པ་ཙམ། ༣༥ །

དུས་ནི་མ་གྲུབ་པོ། ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན། མི་གནས་པའི་ཕྱིར་དེ། དུས་
ནི་མི་གནས་པ་ཡིན་¹⁴⁹པར་བསམ་པའོ། །གང་མི་གནས་པ་དེ་ནི་གཟུང་¹⁵⁰
བར་མི་ཉུས་སོ། །གང་གཟུང་དུ་མེད་པ་དེ་ཇི་ལྟར་གདགས་པར་འགྱུར།
དེ་ལྷ་བས་ན་(དུས་ནི་)མ་གྲུབ་པོ།

གཞན་ཡང་, བན་ཚུན་གྲུབ་ཕྱིར་པན་ཚུན་ལས་གྲུབ་པར་བདགས་¹⁵¹
པ་ལྟེ། འདས་པ་ལ་བདེན་ནས་ད་ལྟར་དང་མ་འོངས་པ་སྐྱབ་པར་བྱེད། ད་
ལྷ་བ་¹⁵²ལ་བདེན་ནས་འདས་པ་དང་མ་འོངས་པ་སྐྱབ་པར་བྱེད། མ་འོངས་
པ་ལ་བདེན་ནས་ད་ལྟར་དང་འདས་པ་སྐྱབ་པར་བྱེད་པས་, (དེ་ལྟར་ན་)གང་
གི་ཕྱིར་, བདེན་ནས་གྲུབ་པ་ཡིན་པར་བདགས་¹⁵³པ་ཡིན་པ་དེའི་ཕྱིར་,
དུས་མ་གྲུབ་པོ། །དེ་ཉིད་ད་ལྟར་ལ་བདགས་ནས་ད་ལྟར་ཞེས་བྱ། དེ་ཉིད་
མ་འོངས་པ་ལ་བདགས་ནས་མ་འོངས་པ་ཡིན་དེ། གང་གི་ཕྱིར་དེ་ལྟར་
འཛོལ་པ་ཡིན་པ་དེའི་ཕྱིར་(དུས་)མ་གྲུབ་པོ།

གཞན་ཡང་, བདག་ཉིད་མ་གྲུབ་པའི་ཕྱིར། དུས་འདི་ནི་བདག་ཉིད་
གྲིས་མ་གྲུབ་པས་, དེ་ལྟ་བུས་ན་(དུས་)མ་གྲུབ་པ་ཡིན་ནོ། །

གཞན་ཡང་, དངོས་པོ་མེད་པའི་ཕྱིར། ཡོད་པ་ཡང་མ་ཡིན་ནོ། །
དངོས་པོ་གྲུབ་ན་ནི་དུས་ཀྱང་གྲུབ་པར་འགྱུར་བ་ཞིག་ན། དངོས་པོ་དེ་ནི་
བཅའ་ནས་རང་གི་ངོ་བོར་གྲུབ་¹⁵⁴པ་མེད་དོ། །དེའི་ཕྱིར་དུས་ནི་ངོ་བོ་
ཉིད་གྲིས་གྲུབ་པ་མེད་པ་ཁོ་ན་སྟེ། རྣམ་པར་རྟོག་པ་ཙམ་འབའ་ཞིག་དུ་
ཟད་དོ། ༣༧ ॥

འདིར་སྒྲུབ་པ་:—འདུས་བྱས་ཐམས་ཅད་ནི་, མཚན་ཉིད་གསུམ་པོ་སྟེ་
བ་དང་། གནས་པ་དང་། འཛིག་པ་(འི་མཚན་ཉིད་)དང་ལྡན་པ་ཡིན་ལ།
དེ་ལས་བཞེད་པ་ནི་འདུས་མ་བྱས་ཡིན་པར་གསུངས་དེ། དེ་ལྟ་བུས་ན་འདུས་
བྱས་དང་, འདུས་མ་བྱས་ནི་ཡོད་དོ། །

འདིར་བཤད་པ་:—

གང་ཕྱིར་སྟེ་དང་གནས་དང་འཛིག་ །

འདུས་བྱས་མཚན་ཉིད་འདི་གསུམ་མེད། །

དེ་ཕྱིར་འདུས་བྱས་འདུས་མ་བྱས། །

ཅི་ཡང་ཡོད་པ་མ་ཡིན་ནོ¹⁵⁵། ༣༠ ॥

སྟེ་བ་དང་གནས་པ་དང་འཛིག་པ་གང་དག་འདུས་བྱས་ཀྱི་མཚན་ཉིད་དུ་
གསུངས་པ་དེ་དག་, དབྱད་ན་མི་འཐད་པའི་ཕྱིར་, མེད་དོ། །གང་གི་ཕྱིར་,
དེ་དག་¹⁵⁶མེད་པ་དེའི་ཕྱིར། འདུས་བྱས་སམ་, འདུས་མ་བྱས་¹⁵པ་ཅི་
ཡང་ཡོད་པ་མ་ཡིན་ནོ། ༣༠ ॥

གཞན་ཡང་, འདུས་བྱས་ཁས་སྒྲངས་སུ་ཟེན་ཡང་, 158གང་གི་ཕྱིར་,
དབྱང་ན་མི་འཐད་པ་དེའི་ཕྱིར་, མེད་དོ་, ཞེས་སྒྲུབ།

མ་ཞིག་མི་འཇག་ཞིག་159བཤང་མིན། |

གནས་པ་གནས་པ་མ་ཡིན་དེ། |

མི་གནས་པ་ཡང་གནས་མ་ཡིན་160། |

སྐྱེས་པ་མི་སྐྱེ་མ་སྐྱེས་མིན། 32 |

འདི་ལ་སྐྱེས་པ་ཞིག་སྐྱེ་བར་འགྱུར་རམ་? མ་སྐྱེས་པ་ཞིག་སྐྱེ་བར་འགྱུར་
གང་ན། དེ་ལ་རེ་ཞིག་སྐྱེས་པ་ནི་སྐྱེ་བ་མ་ཡིན་ནོ། ཁེའི་ཕྱིར་ཞེ་ན། སྐྱེས་
ཟེན་པའི་ཕྱིར་དོ། མ་སྐྱེས་པའང་སྐྱེ་བ་མ་ཡིན་དེ། ཁེའི་ཕྱིར་ཞེ་ན། མ་
སྐྱེས་པའི་ཕྱིར་དོ།

སྐྱེས་པ་དེ་ཉིད་གནས་པ་ཞིག་གནས་པའང་མ་161། མི་གནས་པ་ཞིག་
གནས་པར་འགྱུར་གང་ན། འདི་ལ་ཡང་གནས་པ་ནི་གནས་པ་མ་ཡིན་དེ།
གནས་ཟེན་པའི་ཕྱིར་དོ། མི་གནས་པ་ཡང་གནས་པ་མ་ཡིན་དེ། ཁེའི་
ཕྱིར་ཞེ་ན། གནས་པར་མ་གྱུར་པའི་ཕྱིར་དོ།

ད་ནི་ཞིག་པ་ཞིག་འཇིག་པར་འགྱུར་བའམ། མ་ཞིག་འཇིག་པར་འགྱུར་
གང་ན། གཉིས་ཀ་ལྟར་ཡང་མི་འཐད་དོ། ཁག་གི་ཕྱིར་, འདུས་བྱས་
ཁས་སྒྲངས་སུ་ཟེན་ཡང་, རིམ་པ་འདི་གསུམ་གྱིས་བཅའ་ན་མི་འཐད་པ་དེའི་
ཕྱིར་162 འདུས་བྱས་མེད་དོ། འདུས་བྱས་མེད་པའི་ཕྱིར་, འདུས་མ་
བྱས་ཀྱང་མི་སྤྲོད་དོ། 32 ॥

གཞན་ཡང་—

འདུས་བྱས་དང་ནི་འདུས་ས་བྱས། །

དུ་ས་ས་ཡིན་གཅིག་ས་ཡིན། །

ཡོད་མིན་མེད་མིན་ཡོད་མེད་མིན། །

མཚམས་འདིར་ནས་བ་འདི་ཀྱན་འདུས་163༥ ॥ ३३ ॥

དབྱད་ན་འདུས་བྱས་དང་, འདུས་ས་བྱས་འདི་ནི་དུ་ས་ཡང་ས་ཡིན་,
གཅིག་ཀྱང་ས་ཡིན་, ཡོད་བ་ཡང་ས་ཡིན་, མེད་བ་ཡང་ས་ཡིན་, ཡོད་
མེད་ཀྱང་ས་ཡིན་ནོ། །མཚམས་འདིར་དེ་(སྤྱུ་ལྔ་བོ་འདིར་དེ་), ངེས་བར་164
གཟུང་བ་འདིར་ནི་འདི་ཀྱན་འདུས་དེ་, མ་ལུས་བ་ཐམས་ཅད་འདུ་165བ་,
ཞེས་བཤད་བ་ཡིན་ནོ། །ཐམས་ཅད་ནི་མཐའ་དག་གོ། །འདི་གཉིས་ཀྱིས་166
ནས་བ་ནམས་བསྐྱས་ཟིན་167བར་རིག་བར་བྱའོ༥ ३३ ॥

འདིར་སྐྱུས་བ་—

ལས་གནས་བ་ནི་བཅོམ་ལྷན་གསུངས། །

སྐྱ་ས(ས)ལས་བདག་འབྲས་བྱ་དང་། །

སེམས་ཅན་ལས་བདག་བྱ་བ་དང་། །

ལས་ནམས་ཆུད་ཟེ་མིན་བར་གསུངས་168༥ ॥ ३३ ॥

བཅོམ་ལྷན་འདས་ཀྱིས་མདོ་སྤེ་དག་ལས་, ལས་དང་ལས་ཀྱི་འབྲས་
བྱ་ཡང་ནས་བ་དུ་མར་ཡོངས་སུ་བསྟན། ལས་ནམས་འབྲས་བྱ་མེད་བ་ས་
ཡིན་བར་ཡང་གསུངས། ལས་ནམས་ཆུད་མི་ཟེ་བ་དང་། སེམས་ཅན་
ནམས་ནི་ལས་བདག་གིར་བྱ་བ་169ཡིན་ནོ། །ཞེས་ཀྱང་གསུངས་170༥ །དེ་

ལྷ་བས་ན་ལས་དང་ལས་གྱི་འབྲས་བྱ་ཡོད་དོ། ३३ ॥

འདྲིར་བཤད་པ་—

གང་ཕྱིར་རང་བཞིན་མེད་བསྟན་པ། ॥

དེ་ཕྱིར་དེ་མ་སྦྱེས་པ་ལས། ॥

མི་འཇིག་བདག་འཇིན་དེ་ལས་སྦྱེ། 171། ॥

དེ་སྦྱེད་འཇིན་དེ་འང་ནམ་རྟོག་ལས། ॥ ३༤ ॥

གང་གི་ཕྱིར་, ལས་རང་བཞིན་མེད་བར་བསྟན་ནི་བ་དེའི་ཕྱིར།

[དེ་172མ་སྦྱེས་བས་ནི་དེ་འཇིག་པ་མེད་དོ། །གཞན་ཡང་བདག་འཇིན་དེ་

[ལས་སྦྱེས་173། དེའི་ཕྱིར་, ལས་ནི་བདག་དུ་འཇིན་པས་བསྦྱེད་174ལ།

དེ་ཡང་ནམ་བར་རྟོག་པ་ལས་བྱུང་ང་། ॥ ३༤ ॥

གཞན་ཡང་—

གལ་དེ་ལས་ནི་རང་བཞིན་འགྱུར། ॥

དེ་ལས་སྦྱེས་ལུས་རྟོག་བར་འགྱུར། ॥

གལ་དེ་ལས་རང་བཞིན་ཅན་དུ་གྱུར་ན་, དེ་ལྟ་ཡིན་ན་ནི་ལས་དེ་ལས་

སྦྱེས་བའི་ལུས་གང་ཡིན་པ་དེ་, ཡང་དག་པར་175འགྱུར་དེ། ཐེར་རྒྱལ་

གི་རང་བཞིན་དུ་འགྱུར་176མོ་, ཞེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ། ॥

གཞན་ཡང་—

སྦྱུག་བསྐལ་ནམ་སྦྱིན་ཅན་མི་འགྱུར། ॥ 177

ལས་དེ་སྦྱུག་བསྐལ་གྱི་ནམ་བར་སྦྱིན་པ་ཅན་དུ་ཡང་མི་འགྱུར་ནོ། ॥

གཞན་ཡང་—

དེ་ཕྱིར་ལས་ཀྱང་བདག་དྲུ་འབྱུར༥ 178 34 ॥

གང་གི་ཕྱིར་ལས་དེ་ནག་པ་(ཡིན་པ་)དེའི་ཕྱིར་, བདག་དྲུ་འབྱུར་དེ།
གང་མི་179དྲུག་པ་དེ་རྒྱལ་བ་སྤུལ་བ་ (དང་།) གང་རྒྱལ་བ་སྤུལ་བ་དེ་ནི་བདག་
མེད་པའི་ཕྱིར་རོ། །དེ་ལྟ་བུས་ན་ལས་རང་བཞིན་མེད་པའི་ཕྱིར་སྐྱེ་བ་མེད་དོ།
མི་སྐྱེ་བའི་ཕྱིར་ཆུད་མི་ཟེའོ༥ 34 ॥

གཞན་ཡང་—

ལས་ནི་རྒྱན་སྐྱེས་ཅི་ཡང་མེད། |

རྒྱན་མིན་སྐྱེ་བའང་ཡོད་མིན་དེ། |

ལས་ནི་རྒྱན་ལས་སྐྱེས་པའང་མེད་ལ་, རྒྱན་མ་ཡིན་པ་ལས་སྐྱེས་པ་ཅི་
ཡང་མེད་180དོ༥ ཅའི་ཕྱིར་ཞེ་ན།

འདྲ་བྱེད་ནམས་ནི་རྩུ་མ་དང་། |

དྲི་ཟེའི་གོང་ཁྱེད་སྒྲིག་རྒྱུ་འདྲ༥ 181 35 ॥ [འདྲི་སྒྲིག་འབྲེལ་དྲུ་ལན་
གཉིས་བྱུང་བ་ནོར་]

གང་གི་ཕྱིར་, འདྲ་བྱེད་ནམས་ནི་དྲི་ཟེའི་གོང་ཁྱེད་དང་, རྩུ་མ་དང་,
སྒྲིག་རྒྱུ་དག་དང་འདྲ་བ་དེའི་ཕྱིར་, ལས་རང་བཞིན་182མེད་དོ༥ 35 ॥

གཞན་ཡང་—

ལས་ནི་ཉོན་མོངས་རྒྱ་མཚན་ཅན། |

འདྲ་བྱེད་ཉོན་མོངས་ལས་བདག་ཉིད་183། |

ལྷས་ནི་ལས་ཀྱི་རྒྱ་མཚན་ཅན། |

གསུམ་ཀའང་ངོ་བོ་ཉིད་ཀྱིས་སྟོང་། 30 ॥

གང་གི་ཕྱིར་, ལས་ནི་ཉོན་མོངས་བའི་རྒྱུ་ལས་བྱང་བ་ཡིན་པ་དང་།
གང་གི་ཕྱིར་, འདྲ་བྱེད་ནམས་ལས་དང་ཉོན་མོངས་184(ཀྱི)རྒྱུ་ལས་བྱང་བ་
ཡིན་པ་དང་། གང་གི་ཕྱིར་, ལུས་ལས་ཀྱི་རྒྱུ་ལས་བྱང་བ་དེའི་ཕྱིར་, དེ་
གསུམ་ཅན་ཡང་རང་བཞིན་གྱིས་185སྟོང་ངོ་། 30 ॥

དེ་ལྟར་ཡིན་ན་186:—

ལས་མེད་ན་ནི་བྱེད་པ་མེད། |

དེ་གཉིས་མེད་པར་འབྲས་བྱ་མེད། |

དེ་མེད་ཕྱིར་ན་ཟ་བ་པོ། |

མེད་པ་ཡིན་པས་དཔེན་པ་ནི།187 31 ॥

དེ་ལྟར་རིགས་པས་ཀྱང་དབྱད་ན་, འབྲས་བྱ་རང་བཞིན་གྱིས་188མེད་
ན་, ལས་མེད་པ་ཡིན་ནོ། །ལས་མེད་ན་བྱེད་པ་པོ་མེད་པ་ཡིན་ནོ། །
ལས་བྱེད་པ་པོ་མེད་ན་འབྲས་བྱ་(ཡང་)མེད་དོ། །དེ་མེད་ན་ཟ་བ་པོ་མེད་
པ་ཡིན་དེ། །དེའི་ཕྱིར་དཔེན་པ་ཡིན་ནོ། 32 ॥

གཞན་ཡང་:—

གང་དག་190མཐོང་ཕྱིར་ལས་སྟོང་པར། |

ལེགས་པར་ནམ་པར་ཤེས་ན་ནི། |

ལས་མི་འབྱུང་སྟེ་ལས་མེད་ན། |

ལས་ལས་གང་བྱུང་མི་འབྱུང་ངོ་།191 33 ॥

དེ་ཁོ་ན་མཐོང་བའི་རྒྱུ་ལས་རང་བཞིན་གྱིས་སྟོང་192པ་ལེགས་པར་

ནམ་པར་ཤེས་ན་, ལས་ནི་སི་འབྱུང་ངོ་། །ལས་དེ་མེད་ན་, ལས་དེ་ལས་
བྱུང་བ་གང་ཡིན་པ་དེ་ཡང་སི་འབྱུང་ངོ་། ༣༦ ॥

འདིར་སྐྱུལ་བ་, ད་ཅི་མེད་པ་ཁོ་ན་ཡིན་ནམ། འོན་ཏེ་འགའ་ཞིག་ཡོད།
འདིར་བཤད་པ་, ཡོད་དོ། །གལ་ཏེ་རྩི་ལྟར་ཞེ་ན།

རྩི་ལྟར་བཅོམ་ལྷན་དེ་བཞིན་གཤེགས། །

དེ་ནི་རྩ་འབྲུལ་གྱིས་སྐྱུལ་བ་193། །

སྐྱུལ་བ་མཛད་ལ་སྐྱུལ་དེས་ཀྱང་། །

སྐྱུལ་བ་གཞན་ཞིག་སྐྱུལ་བར་བྱེད། ༥༠ ॥

དེ་ལས་194དེ་བཞིན་གཤེགས་སྐྱུལ་སྟོང་། །

སྐྱུལ་བས་སྐྱུལ་བ་སྒོས་ཅི་དགོས། །

དྲིག་པ་ཙམ་གང་ཅི་ཡང་རྒྱང་195། །

དེ་དག་གཉིས་ཀ་ཡོད་བ་ཡིན། ༥༡ ॥

དེ་བཞིན་བྱེད་པོ་སྐྱུལ་བར་196མཚུངས། །

ལས་ནི་སྐྱུལ་བས་སྐྱུལ་དང་མཚུངས། །

རང་བཞིན་གྱིས་ནི་སྟོང་བ་ཡིན། །

དྲིག་ཙམ་གང་ཅིའང་རྒྱང་བར་ཡོད་197། ༥༢།

རྩི་ལྟར་བཅོམ་ལྷན་འདས་དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་དེ་, རྩ་འབྲུལ་གྱིས་
སྐྱུལ་བ་མཛད་ལ། སྐྱུལ་བ་དེས་ཀྱང་སྐྱུལ་བ་གཞན་ཞིག་སྐྱུལ་བར་བྱེད་པ་
དེ་བཞིན་དུ་, ལས་ཀྱང་ཁོང་དུ་རྒྱུད་བར་བྱུང་།

དེ་ལ་རེ་ཞིག་དེ་བཞིན་གཤེགས་པས་སྐྱུལ་བ་ཡང་རང་བཞིན་གྱིས་སྟོང་ན།

སྐུལ་བས་སྐུལ་བ་གཞན་198ལྔ་སྐྱོས་ཀྱང་ཅི་དགོས། །རྗེ་ལྷ་ར་199དྲོག་བ་
ཅམ་གང་ཅི་ཡང་རྒྱང་བ་གཉིས་200ཀ་ལ་ཡང་ཡོད་བ་ལྷ་ར་, ལས་ཀྱང་དེ
དང་འདྲའོ། ༧༠, ༧༡, ༧༢ །

གཞན་ཡང་:—

གལ་དེ་རང་བཞིན་གྱིས་ལས་ཡོད། །

ཕྱ་ངན་འདས་ལས་བྱེད་པོ་མེད། །

གལ་དེ་མེད་ན་ལས་སྐྱེད་201པའི། །

འབྲས་བྱ་སྐྱུག་དང་མི་སྐྱུག་མེད་202། ༧༣ །

གལ་དེ་ལས་རང་བཞིན་(གྱིས)ཡོད་ན་, ལས་རང་བཞིན་གྱིས་གྲུབ་བ་
ཕན་ཆད་ཕྱ་ངན་ལས་འདས་བ་203མེད་དོ།

གཞན་ཡང་, ལས་ཀྱི་བྱེད་བ་པོ་ཡང་མེད་དོ། །ཅིའི་སྤྱིར་ཞེ་ན། བྱེད་
བ་པོ་མེད་204ར་ཡང་ལས་རབ་དུ་འབྱུབ་པའི་སྤྱིར་དོ། །གལ་དེ་ལས་205
རང་བཞིན་གྱིས་མེད་ན་ནི་, ལས་ཀྱིས་སྐྱེད་པའི་འབྲས་བྱ་སྐྱུག་བ་དང་206
མི་སྐྱུག་བ་གང་ཡིན་བ་དེ་ཡང་མེད་དོ། ༧༣ །

འདྲིར་སྐྱོས་པ་:— མདོ་སྤེལ་ས་, ཡོད་དོ་ཞེས་བྱ་ཆེར་བ་རྒྱུངས་ན་,
དེ་རྗེ་ལྷ་ར་མེད་དོ་ཞེས་བྱ་བར་འགྱུར།

འདྲིར་བཤད་པ་:—

ཡོད་ཅེས་བ་ཡོད་མེད་ཅེས་བའང་། །

ཡོད་དེ་ཡོད་མེད་ཅེས་དེའང་ཡོད་207། །

སངས་རྒྱས་རྣམས་ཀྱིས་དགོངས་208ནས་ནི་209།

གསུངས་པ་རྟོགས་པར་སྒྲུབ་ཡིན། ༧༧ ॥

‘ཡོད་དོ’—ཞེས་གསུངས་པ་གང་ཡིན་པ་དེ་ཡང་བདགས་210པར་ཡོད་
དོ། ‘མེད་དོ’—ཞེས་གསུངས་པ་གང་ཡིན་པ་ཡང་བདགས་པར་ཡོད་དོ། ।

‘ཡོད་མེད’—ཅེས་པ་གང་ཡིན་པ་དེ་ཡང་བདགས་པ་ཁོ་ནར་ཟད་དོ། །སངས་
ལྷན་རྒྱལ་211ཀྱིས་(གང་ལ་)དགོངས་དེ་གསུངས་པ་རྣམས་ནི་, རྣམ་པ་
ཐམས་ཅད་དུ་རྟོགས་པར་212སྒྲུབ་པ་མ་ཡིན་ནོ། ༧༨ ॥

འདིར་སྒྲུས་པ་:—འདི་ལ་གཞུགས་ནི་འབྱུང་བ་ལས་གྱུར་པ་ཡིན་པར་
འདོད་དེ་ཡོད་ལ། ལྷག་མ་གཞུགས་ཅན་མ་ཡིན་པའི་སྤྱིར་, 213 ཆོས་
རྣམས་ཀྱང་ཅི་རིགས་པར་ཡོད་དོ214།

འདིར་བཤད་པ་:—

གལ་དེ་གཞུགས་འབྱུང་ལས་གྱུར་ན215། ।

ཡང་དག་མིན་ལས་གཞུགས་འབྱུང་འབྱུར། ।

རང་གི་ངོ་བོ་ལས་མ་ཡིན། ।

དེ་མེད་སྤྱིར་216ན་གཞན་ལས་མིན་217། ༧༩ ॥

གལ་དེ་གཞུགས་འབྱུང་བ་ལས་218གྱུར་བ་ཡིན་པར་འདོད་ན་, དེ་
ལྷ་219ན་ནི་གཞུགས་ཡང་དག་པ་220མ་ཡིན་པ་ལས་གྱུར་བ་ཡིན་དེ། ‘ཡང་
དག་པ་མ་ཡིན་པ་ལས་’, ཞེས་བྱ་བ་ནི། ‘བདག་མ་ཡིན་པ་ལས་’(ཞེས་)
བཤད་པ་ཡིན་ནོ། །དེ་ལྷར་གཞུགས་ནི་རང་གི་ངོ་བོ་ལས་མ་ཡིན་པའོ།

འདིར་སྒྲུས་པ་:— དེ་དེ་བཞིན་དེ་, རང་གི་ངོ་བོ་ལས་ནི་མ་ཡིན་དེ།
གཞན་ལས་ཡིན་དེ་, འབྱུང་བ་རྣམས་ནི་དེའི་གཞན་221ནོ།

འདིར་བཤད་པ་— དེ་མེད་ཕྱིར་ན་གཞན་ལས་མིན། གཞུགས་དེ་
གཞན་ལས་མ་ཡིན་ནོ།²²²

ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན། དེ་མེད་པའི་ཕྱིར་གཞན་དེ་མེད་པའི་ཕྱིར་རོ། །ཇི་
ལྟར་ཞེ་ན། འདི་ལྟར་རང་གི་ངོ་བོ་ཉིད་མ་གྲུབ་པའི་ཕྱིར་, ‘གཞན་ལས’
ཞེས་²²³བྱ་བ་མི་འཐད་དེ། མེད་པ་ནི་དེའི་གཞན་ལས་ཞེས་²²⁴བྱ་བ་མི་
འཐད་(དེ)མེད་པ་དེའི་གཞན་ཞེས་²²⁵བྱ་བ་མ་ཡིན་ནོ།

གཞན་ཡང་, འབྲུང་བ་ཆེན་པོ་²²⁶དེ་དག་ཉིད་མེད་པའི་ཕྱིར་དེ། འདི་ལ་
མཚན་ཉིད་ལས་བྱུང་བ་ནམས་འགྲུབ་པར་འདོད་ན་, མཚན་ཉིད་དེ་ཡང་འབྲུང་
བ་ནམས་ཀྱི་²²⁷ཚུན་རེལ་དུ་འགྲུབ་པ་(དགོས་པས་)མི་འཐད་དོ། །དེ་མ་གྲུབ་
པའི་ཕྱིར་, ²²⁸མཚན་གཞི་²²⁹འབྲུང་བ་ནམས་ཀྱང་མ་གྲུབ་བོ། ལྟེན་ ༥ ॥

གཞན་ཡང་:—

གཅིག་ལའང་²³⁰བཞི་ནི་ཡོད་མིན་ཞིང་།

བཞི་ལའང་གཅིག་གི་ཡོད་མིན་ན་²³¹། །

འབྲུང་བ་ཆེ་བཞི་མེད་བདེན་ནས། །

གཞུགས་ནི་ཇི་ལྟར་འགྲུབ་པར་འགྱུར་²³²། ལྟེན་ ༥ ॥

དེ་ལྟར་བས་ན་, བཞི་ལའང་གཅིག་ཉིད་མེད་ལ། གཅིག་ལའང་²³³
བཞི་ཉིད་མེད་པའི་ཕྱིར། འབྲུང་བ་ཆེན་པོ་བཞི་མེད་པ་ལ་བདེན་ནས་,
གཞུགས་ཇི་ལྟར་འགྲུབ་པར་འགྱུར། ‘མེད་པ’ཞེས་བྱ་བ་ནི་ཡོད་པ་མ་ཡིན་
པ་ཞེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ། ལྟེན་ ༥ ॥

གཞན་ཡང་—

ཤིན་དུ་མི་འཛིན་ཕྱིར་གལ་དེ། |

དྲགས་ལས་ཤེན་234དྲགས་དེ་མེད། |

རྒྱ་དང་རྒྱུན་ལས་སྦྱེས་235ཕྱིར་རོ། |

ཡོད་ནའང་དྲགས་མེད་རིགས་236མ་ཡིན་237|| ལ།

ཤིན་དུ་མི་འཛིན་པའི་ཕྱིར་, གཞུགས་ནི་ཡོད་པ་མ་ཡིན་པ་ཉིད་རོ། |

ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན། ཤིན་དུ་མི་འཛིན་པའི་ཕྱིར་(ཞེས་པ་སྟེ), གཞུགས་ནི་ཤིན་དུ་
མི་འཛིན་པ་ཉིད་དེ། གང་ལ་འཛིན་པ་མི་སྲིད་པ་དེ་, ཇི་ལྟར་ཡོད་དོ་ཞེས་
བྱ་བར་འགྱུར།

འདི་ལ་འདི་སྟུང་དུ་དྲགས་238ལས་དེ། གལ་དེ་འདིའི་དྲགས་,
གཞུགས་སོ་སྟུང་པའི་ཁྱོ་གཞུགས་ཅན་གྱི་ཁྱོ་ཡོད་ན་, ‘གཞུགས་’ཞེས་བྱ་
བ་འགྱུར་བར་འགྱུར་དེ། གང་གི་ཕྱིར་, རོན་མེད་པ་ལ་ཁྱོ་མི་འཇུག་པ་
དེའི་ཕྱིར། དྲགས་ཁྱོ་ལས་239གཞུགས་ཡོད་སྟུང་དུ་སེམས་ན། འདིར་
བཤད་པ་, གལ་དེ། དྲགས་240ལས་ཤེན་དྲགས་དེ་མེད། དྲགས་དེ་ནི་
མེད་དེ་ཡོད་པ་མ་ཡིན་ནོ། ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན། རྒྱ་དང་རྒྱུན་ལས་སྦྱེས་ཕྱིར་
རོ། གང་གི་(ཕྱིར་)དྲགས་ཁྱོ་དེ་ནི་རྒྱ་དང་རྒྱུན་ནམས་ལས་སྦྱེས་པ་དེའི་ཕྱིར་,
དེ་མེད་དོ། |

གཞན་ཡང་, ཡོད་ནའང་དྲགས་མེད་རིགས་མ་ཡི། གལ་དེ་241
གཞུགས་དེ་ཡོད་དུ་ཟིན་ན་ཡང་། དེ་ལྟར་ཡང་, གཞུགས་ཡོད་པའི་
དྲགས་མེད་པ་242རིགས་པ་243མ་ཡིན་དེ་, དྲགས་ཡོད་པ་མ་ཡིན་པ་ནི་མི་

རིགས་སོ॥ ༧༧ ॥

གཞན་ཡང་—

གཡ་ཏེ་གཞུགས་ནི་འཛིན་འགྱུར་ན། །

བདག་གི་རང་བཞིན་ཉིད་འཛིན་འགྱུར། །

མེད་པ་རྒྱུན་ལས་སྦྱེས་པའི་སྒོས། །

གཞུགས་མེད་ཇི་ལྟར་འཛིན་པར་འགྱུར་244॥ ༧༨ ॥

གཡ་ཏེ་གཞུགས་འཛིན་པར་འགྱུར་ན་, ²⁴⁵ དེ་ལྟ་ཡིན་ན་ནི་བདག་གི་
རང་བཞིན་ཉིད་ཇི་ལྟར་བར་འགྱུར་ཏེ། རང་གི་བདག་ཉིད་ལ་འཛིན་པར་འགྱུར་
རོ་, ཞེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ། །དེ་ཡང་མ་མཐོང་སྟེ། དེ་ཉིད་ཀྱིས་དེ་ལ་
འཛིན་པ་ནི་མ་ཡིན་ནོ། །གང་གི་སྤྱིར་, སྒོ་དེ་རང་བཞིན་གྱིས་སྒྲོང་པ་དེའི་
སྤྱིར་, མེད་པ་རྒྱུན་ལས་སྦྱེས་པའི་སྒོ་དེས་, གཞུགས་མེད་པ་ཇི་ལྟར་འཛིན་
པར་འགྱུར་॥ ༧༩ ॥

འདྲིར་སྒྲུས་པ་— མདོ་སྡེ་ལས་གཞུགས་འདས་པ་དང་, མ་འོངས་
པའི་གཞུགས་འཛིན་པ་མང་དུ་གསུངས་ཏེ། དེ་ལྟ་ངས་ན་གཞུགས་འཛིན་
པ་ནི་ཡོད་དོ།

འདྲིར་བཤད་པ་—

གང་ཚོ་སྒོ་འབྱུང་སྐད་ཅིག་པས། །

གཞུགས་སྦྱེས་སྐད་ཅིག་མི་འཛིན་ན། །

དེ་ཡིས་འདས་དང་མ་འོངས་པའི། །

གཞུགས་ནི་ཇི་ལྟར་རྟོགས་པར་འགྱུར་246॥ ༨༠ ॥

འདི་ལ་གཞུགས་དང་ཆོ་འདི་གཉི་ག་ཡང་སྐད་ཅིག་ཡིན་པར་བསམས་
 ཏེ། གང་གི་ཆོ་ཆོ་བྱང་བ་སྐད་ཅིག་པ་²⁴⁷ཡིན་པས་, གཞུགས་སྦྱོར་བ་
 སྐད་ཅིག་པ་མི་འཛིན་ན། འདས་པ་དང་མ་འོངས་པའི་གཞུགས་ཇི་ལྟར་
 ཉོགས་པར་འགྱུར་ཏེ། མི་སྤྱོད་པའི་ཕྱིར་, ཉོགས་པར་མི་འགྱུར་རོ། །
 ཇི་ལྟར་ཞེས་བྱ་བ་ནི་གསལ་བའི་དོན་ཡིན་པའི་ཕྱིར་རོ། །རིགས་པ་འདིས་²⁴⁸
 ནི་གཞུགས་ཤིན་དུ་མི་འཛིན་ནོ། ། ༧༧ །

གཞན་ཡང་, ཁ་དོག་དང་དབྱིབས་སུ་ཁས་²⁴⁹ལྷངས་སུ་ཇིན་ཡང་,
 གཞུགས་འཛིན་པར་མི་འཐད་པ་ཉིད་དོ། །ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན།

གང་ཆོ་ནས་ཡང་ཁ་དོག་དབྱིབས། །

ཐ་དད་ཉིད་ནི་ཡོད་མ་ཡིན། །

ཐ་དད་གཅིག་དུ་འཛིན་པ་མེད། །

དེ་གཉིས་གཞུགས་སུ་གྲགས་ཕྱིར་རོ།²⁵⁰། ༧༨ །

གལ་ཏེ་ཁ་དོག་དང་དབྱིབས་གཉིས་²⁵¹ཐ་དད་ཉིད་དུ་གྱུར་ན་ནི་, དེའི་
 ཕྱིར་དེ་གཉིས་ཐ་དད་དུ་འཛིན་པ་འཐད་པར་འགྱུར་ན། གང་གི་ཆོ་ཁ་
 དོག་དང་དབྱིབས་དེ་དག་གཞུགས་ཡིན་པར་འདོད་པ་དེའི་ཆོ་འཐད་པར་མི་
 འགྱུར་རོ། ༧༩ །

གཞན་ཡང་—

མིག་ཆོ་མིག་ལ་ཡོད་མིན་ཏེ། །

གཞུགས་ལ་ཡོད་མིན་བར་ནའང་མེད། །

མིག་དང་གཞུགས་ལ་བརྟེན་ནས་དེ²⁵²། །

ཡོངས་སུ་རྟོག་པ་ལོག་པ་ཡིན། ༥༡ །

དེ་ནི་བདག་ས་²⁵³ན་, མིག་གི་སྒོ་ནི་མིག་ལ་ཡང་མེད་, གཞུགས་ལ་
ཡང་མེད་, དེ་གཉི་གཞི་བར་ན་ཡང་མེད་ན། དེ་ནི་མིག་དང་གཞུགས་ལ་
བདེན་ནས་སྐྱེ་བར་ཡོངས་སུ་རྟོག་པ་དེ་ནི་ལོག་པ་ཡིན་ནོ། ༥༢ །

འདིར་སྒྲས་པ་, མིག་ལ་སོགས་པའི་སྐྱེ་མཆེད་ནམས་ནི་ཡོད་དེ་, ²⁵⁴
དེ་དག་གི་སྒྲོད་ལུལ་བཟ་བར་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་ཡོད་པ་ཡིན་ནོ། །དེ་ལ་མིག་
ནི་གཞུགས་ལ་ལྟ་ལ། ན་བ་ལ་སོགས་པ་ཡང་ཅི་རིགས་པར་དེ་དང་འདྲའོ།

འདིར་བཤད་པ་:—

གལ་ཏེ་མིག་བདག་མི་མཐོང་ན། །

དེ་གཞུགས་མཐོང་བར་ཇི་ལྟར་འགྱུར། །

དེ་སྤྱིར་མིག་དང་གཞུགས་བདག་མེད། །

སྐྱེ་མཆེད་ལྟག་མའང་དེ་དང་འདྲ་²⁵⁵། ༥༣ །

མིག་དེ་²⁵⁶རང་བདག་ཉིད་ཀྱིས་སྒྲོང་། །

དེ་བཞིན་གཞན་བདག་²⁵⁷ཉིད་ཀྱིས་སྒྲོང་²⁵⁸།

གཞུགས་ཀྱང་དེ་བཞིན་སྒྲོང་བ་སྟེ། །

སྐྱེ་མཆེད་ལྟག་མའང་དེ་བཞིན་སྒྲོང་²⁵⁹། ༥༤ །

‘དེ་བཞིན་’—ཞེས་བྱ་བ་ནི་, ཇི་ལྟར་གཞུགས་རང་གི་བདག་ཉིད་དང་²⁶⁰
གཞན་གྱི་བདག་ཉིད་ཀྱིས་སྒྲོང་བ་དེ་བཞིན་དུ་, སྐྱེ་མཆེད་ལྟག་མ་ཡང་རང་གི་
བདག་ཉིད་དང་གཞན་གྱི་བདག་ཉིད་ཀྱིས་སྒྲོང་ངོ་, ཞེས་མཐུན་པར་བསྟན་²⁶¹
དེ། དེ་ལྟ་བུས་ན་གཞུགས་ནི་རང་གི་བདག་ཉིད་དང་གཞན་གྱི་བདག་ཉིད་

ཀྲིས་སྟོང་པ་ཡིན་ནོ།

གཞན་ཡང་, བརྟེན་ནས་བྱང་བའི་ཕྱིར་ཡང་སྟོང་པ་ཡིན་དེ། འདི་
ལས་གཞུགས་ཉིད་ཀྲིས་²⁶²འབྱུང་བ་ནས་སྐྱར་བྱས་ནས་བྱུབ་པ་དེ་ནི་བརྟེན་
ནས་བྱུབ་པ་ཡིན་ལ། ཁང་ལ་བརྟེན་ནས་བྱུབ་པ་དེ་ནི་རང་གི་ངོ་བོ་སྐྱུ་བྱུབ་
སྟེ། དེ་ལྟ་བུ་ན་གཞུགས་ནི་རང་གི་ངོ་བོ་སྟོང་པ་ཡིན་ནོ།

གཞན་གྱི་བདག་ཉིད་ཀྲིས་ཀྱང་སྟོང་པ་ཡིན་དེ། དེའི་གཞན་(དེ་ལས་
གཞན་)ནི་མིག་དང་སྟོ་ཡིན་ནོ། སྟོ་དང་བཅས་བའི་མིག་དེ་ནི་ཡུལ་ཅན་
ཡིན་ལ། གཞུགས་ནི་ཡུལ་དེ་, ཡུལ་གང་ཡིན་པ་དེ་ནི་ཡུལ་ཅན་སྟེ་ཡིན་ནོ།
དེ་ལྟ་བུ་ན་གཞན་གྱི་བདག་ཉིད་ཀྲིས་ཀྱང་སྟོང་ངོ་།

ནས་པ་གཅིག་དྲ་ན་སྟོ་ནི་ནང་ཡིན་ལ་, གཞུགས་ནི་སྐྱད་པར་བྱ་བ་
དང་ཕྱི་རོལ་ཡིན་དེ། ནང་གི་སྐྱེ་པ་དེའི་ཕྱིར་, གཞན་གྱི་བདག་ཉིད་
ཀྲིས་ཀྱང་སྟོང་ངོ་། ཁང་ལས་ཤེ་²⁶³ན? སྟོ་ཉིད་གང་ལས་²⁶⁴བརྟེན་ནས་
བྱང་བའི་ཕྱིར་དེ། ཇི་ལྟར་བརྟེན་ནས་²⁶⁵བྱུབ་པ་ཡིན་ཞེ་ན? སྟོ་ཉིད་ནི་
རྟོགས་པར་བྱ་བ་ཉིད་ལ་²⁶⁶སོགས་པ་ལ་བརྟེན་ནས་བྱུབ་པ་ཡིན་ནོ། ཁང་
བརྟེན་ནས་བྱུབ་པ་དེ་ནི་རང་གི་བདག་ཉིད་ཀྲིས་སྐྱུ་བྱུབ་སྟེ་²⁶⁷ དེ་ལྟ་བུ་ན་
སྟོ་དེ་ནི་རང་གི་བདག་ཉིད་མེད་དོ། དེའི་ཕྱིར་སྟོ་ནི་དོན་སྤྱོད་སོགས་
པ་འཛིན་པར་བྱེད་པ་ཡིན་ནོ།, ཞེས་བྱ་བ་དེ་མི་རུང་ངོ་།

‘གཞུགས་ཀྱང་དེ་བཞིན’-ཞེས་བྱ་བ་ནི་དེ་དང་མཛུ་སྟེ་སྟེ། ཇི་ལྟར་
མིག་རང་གི་བདག་ཉིད་དང་, གཞན་གྱི་²⁶⁸བདག་ཉིད་ཀྲིས་སྟོང་པ་དེ་བཞིན་
དྲ་, གཞུགས་ཀྱང་རང་གི་བདག་ཉིད་དང་, གཞན་གྱི་བདག་ཉིད་ཀྲིས་སྟོང་

ངོ། །གཟུགས་ཇི་ལྟར་རང་གི་བདག་ཉིད་དང་གཞན་གྱི་བདག་ཉིད་ཀྱིས་
སྟོང་²⁶⁹པ་ཡིན་ཞེ་ན།

གང་སྤྱིར་དངོས་པོ་ཐམས་ཅད་ཀྱི།

རང་བཞིན་ཀྱན་ལ་ཡོད་མ་ཡིན།²⁷⁰

ཞེས་²⁷¹སྤར་བཤད་པ་བཞིན་ནོ།²⁷²

བདག་ས་ན་དངོས་པོ་ཐམས་ཅད་ཡོད་པ་མ་ཡིན་དེ། དངོས་པོ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་
རང་བཞིན་ཉིད་མེད་དོ། ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ། །སྟོང་ཞེས་བྱ་བ་ནི་
དམིགས་པ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ། །

མིག་ནི་བདེན་ནས་བྱང་བའི་སྤྱིར་སྟོང་སྟེ། མིག་ཉིད་ནི་བདེན་ནས་
གྲུབ་²⁷³པའི་སྤྱིར་དོ། །གང་བདེན་ནས་གྲུབ་²⁷⁴པ་དེ་ནི་རང་གི་བདག་ཉིད་
དུ་མ་གྲུབ་པའི་སྤྱིར། དེ་ལྟ་བུས་ན་མིག་ནི་རང་གི་བདག་ཉིད་ཀྱིས་སྟོང་ངོ། །

ཅི་²⁷⁵སྟེ་གཞན་གྱི་བདག་ཉིད་དུ་ཡོད་པར་འདོད་ན་, དེ་ཡང་མི་རུང་སྟེ།
ཅིའི་སྤྱིར་ཞེ་ན། གང་ལ་རང་གི་བདག་ཉིད་མེད་པ་དེ་ལ་གཞན་གྱི་དངོས་
པོ་ག་ལ་ཡོད་དེ་, གཞན་གྱི་དངོས་པོ་ཡང་མེད་དོ། །དེ་ལྟ་བུས་ན་གཞན་
གྱི་བདག་ཉིད་ཀྱིས་²⁷⁶སྟོང་ངོ། །

ནམ་པ་གཅིག་དུ་ན་གཞན་གྱི་བདག་ཉིད་ཀྱིས་ཀྱང་སྟོང་, ཞེས་བྱ་བ་²⁷⁷
དེ་ཡང་, དེའི་གཞན་གྱི་སྟོང་ཡིན་དེ། ‘མིག་ནི་སྟོང་ཀྱང་སྟོང་ཞེས་བྱ་བའི་
ཐ་ཚིག་གོ། ཅིའི་སྤྱིར་ཞེ་ན། མིག་ནི་ཤེས་པ་ཡོད་པ་མ་ཡིན་པའི་སྤྱིར་དེ།
གང་གི་སྤྱིར་, ཤེས་པ་མེད་པ་ནི་ཤེས་པ་ཡོད་པའི་བདག་ཉིད་དུ་འགྱུར་བར་
འོས་པ་མ་ཡིན་པ་དེའི་སྤྱིར། གཞན་གྱི་བདག་ཉིད་ཀྱིས་སྟོང་ངོ། །གཞན་

ཡང་ཆོ་ཉིད་སྟོང་བ་ཡིན་ནོ།

འདིར་སྒྲུལ་བ་, མིག་ནི་བདག་ཉིད་མཐོང་གི་, ཆོ་ནི་མ་ཡིན་ནོ། །
 ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན། ཆོ་ནི་འཛིན་པར་བྱེད་བ་ཡིན་པའི་ཕྱིར་དེ། གང་གི་ཕྱིར་,
 ཆོ་ནི་དོན་སྤྲོ་མོ་ལ་སོགས་པ་འཛིན་པར་བྱེད་བ་དེའི་ཕྱིར་ཆོ་ཡིན་ལ། མིག་
 གསུམ་ནི་²⁷⁸བདག་ཉིད་མཐོང་ངོ་། འདི་ལྟ་སྟེ། མིག་ནི་འདྲུང་བ་དང་དཔེ་
 བདག་ཉིད་ཡིན་དེ། དེ་ནི་མིག་གི་རང་བཞིན་ཡིན་ནོ། །དེ་འཛིན་པར་བྱེད་
 པའི་ཆོ་ཁོ་ན་ཡིན་ནོ། །དེ་བཞིན་དུ་ཁ་དོག་དང་དབྱིབས་ཀྱི་ཁྱད་པར་གཟུགས་
 རྣམས་འཛིན་པར་བྱེད་བ་ཡང་ཆོ་ཁོ་ན་ཡིན་དེ། དེ་ལྟ་བུ་ནི་— “གཤམ་
 དེ་མིག་བདག་མི་མཐོང་ན། །དེ་གཟུགས་མཐོང་བར་ཇི་ལྟར་འགྱུར་²⁷⁹།”
 ཞེས་ཁྱེད་ཀྱིས་གང་སྒྲུལ་བ་དེ་མི་འཐད་དོ།

འདིར་བཤད་བ་, དེ་ནི་དེ་ལྟ་མ་ཡིན་དེ། ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན།

མིག་དེ་རང་བདག་ཉིད་ཀྱིས་སྟོང་། །

དེ་ནི་གཞན་བདག་ཉིད་ཀྱིས་སྟོང་། །

དེ་བཞིན་གཟུགས་ཀྱིས་སྟོང་བ་སྟེ། །

སྐྱེ་མཆེད་ལྷག་མའང་དེ་བཞིན་སྟོང་²⁸⁰། །

འདི་ལ་མིག་ནི་རང་གི་བདག་ཉིད་ཀྱིས་སྟོང་ངོ་། །“རང་གི་བདག་ཉིད་”
 ཅེས་བྱ་བ་ནི་རང་ཉིད་ཡིན་ནོ། །གཤམ་དེ་མིག་གསུམ་²⁸¹བདག་ཉིད་མི་མཐོང་ན་,
 དེས་གཟུགས་མཐོང་བར་ཇི་ལྟར་འགྱུར། གང་གི་ཕྱིར་, བདག་ཉིད་ཀྱང་
 མི་མཐོང་ལ་²⁸²གཟུགས་ཀྱང་མི་མཐོང་བ་དེའི་ཕྱིར། མིག་ནི་བདག་མེད་
 དེ་རང་བཞིན་མེད་དོ་, ཞེས་བཤད་བ་ཡིན་ནོ།

གཞན་ཡང་གཟུགས་ནི་བདག་མེད་དོ། །མི་རྣམ་པ་ནི་གཟུགས་མ་
ཡིན་པ་ལྟར་, རྩེ་མཆེད་རྩེ་ག་མ་དེ་དང་འདྲ། རིམ་པ་དེ་ཉིད་ཀྱིས་རྩེ་མཆེད་
རྩེ་ག་མ་ནམས་(ཀྱང་)བདག་ཉིད་མེད་དེ་རང་བཞིན་མེད་པ་ཡིན་ནོ། ༥༩, ༦༠ ॥

གཞན་ཡང་—

གལ་དེ་²⁸³གཅིག་རེག་ལྟན་ཅིག་འགྲུར། ।

དེ་ཆེ་གཞན་ནམས་སྟོང་པ་ཡིན། ।

སྟོང་བའང་མི་སྟོང་མི་སྟོན་དེ་²⁸⁴། ।

མི་སྟོང་པ་ཡང་སྟོང་པ་མིན་²⁸⁵། ༥༠ ॥

གང་གི་ཆེ་²⁸⁶རྩེ་མཆེད་གཅིག་རེག་པ་དང་ལྟན་ཅིག་དུ་བྱུང་བའི་ཆེ་
གཞན་ནམས་སྟོང་པ་ཡིན་དེ། སྟོང་པ་ཡིན་བའང་མི་སྟོང་པ་མི་བདེན་ལ།
མི་སྟོང་པ་ཉིད་ཀྱང་སྟོང་པ་ཉིད་མི་བདེན་དོ། ༥༡ ॥

གཞན་ཡང་—

གསུམ་བོ་ཡོད་མིན་མི་གནས་པའི། ।

རང་བཞིན་འདྲ་བ་ཡོད་མིན་པས། ।

དེ་བདག་²⁸⁷ཉིད་ཀྱིས་རེག་པ་མེད། ।

དེ་ཕྱིར་ཆོར་བ་ཡོད་མ་ཡིན་²⁸⁸། ༥༢ ।

གསུམ་བོ་ཡོད་པ་མ་ཡིན་དེ་, མེད་པ་མི་གནས་པའི་རང་བཞིན་ནམས་
ལ་འདྲ་བ་མེད་དོ། །འདྲ་བ་མེད་པའི་ཕྱིར་, དེའི་བདག་ཉིད་ཀྱིས་རེག་པ་
མེད་པེ། དེ་ལས་བྱུང་བའི་རེག་པ་མེད་²⁸⁹, ཅེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ། ।
རེག་པ་མེད་པའི་ཕྱིར་ཆོར་བ་མེད་དོ། ༥༣ ॥

གཞན་ཡང་།—

ནང་དང་ཕྱི་ཡི་སྤྱེ་མཆེད་ལ།

བདེན་ནས་ནས་པར་གྲུང་།

དེ་ལྟ་བུ་བས་ན་རྣམ་གཤམ་མེད་²⁹⁰།

ལྷོ་གཡུང་ལྷན་སྐྱེད་བཞིན་དུ་སྤོང་། རྩ ༥ །

གང་གི་ཕྱིར་, ཕྱི་དང་ནང་གི་སྤྱེ་མཆེད་ལ་བརྟེན་ནས་ནས་པར་གྲེས་པ་
སྤྱེ་བའི་²⁹¹ཕྱིར་, ནས་པར་གྲེས་པ་དེ་ཡང་མེད་ཅེ། མྱིལ་སྤྱོད་མ་བཞིན་
དུ་སྤྱོད་ཅོ་ ॥ ༡༦ ॥

དེ་ལ་འདི་སྟུམ་ཏུ་, རྣམ་པར་གྲུས་པ་རྣམ་པར་གྲུས་པ་(ར)ཟྱེད་པར་
ཡོད་སྟུམ་ཏུ་སེམས་²⁹²ན་, དེ་ཡང་མི་འཕྲད་དོ།

ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན།

ནམ་ཤེས་ནམ་ཤེས་བྱ་བརྟེན་ནས།

འབྱུང་བས་ཡོད་མིན་གྱིས་པ་དང་།

ནམ་ཤེས་བྱ་མེད་ཕྱིར་དེའི་ཕྱིར།

ལྷ་མ་གྲོང་པ་མེད་པ་ཉིད²⁹³ || རེ ||

གང་གི་ཕྱིར་, རྣམ་པར་ཤེས་པ་ནི་, རྣམ་པར་ཤེས་པར་བྱ་བར་²⁹⁴
བརྟེན་ནས་འབྱུང་བ་དེའི་ཕྱིར་, མེད་²⁹⁵འོ། །རྣམ་པར་ཤེས་པར་བྱ་བ་དང་,
རྣམ་པར་ཤེས་པ་མེད་པའི་ཕྱིར། རྣམ་པར་ཤེས་པ་བོ་ཡང་²⁹⁶མེད་འོ། །ཀུམ།

འདིར་སྐུ་སྐུ་པ་, 'ཐམས་ཅད་མི་རྟག་གོ' ཞེས་གསུངས་ཏེ་, ཐམས་ཅད་མི་རྟག་པར་བརྟན་པས་མི་ཕྱོད་པ་ཉིད་ཀྱང་བརྟན་པ་(ར)མཛད་པ་ཡིན་ནོ།

འདྲིར་བཤད་པ་—

ཐམས་ཅད་མི་དྲག་མི་དྲག་པའམ། |

ཡང་ན་དྲག་པ་ཅི་ཡང་མེད། |

དངོས་ཡོད་དྲག་དང་མི་དྲག་ཉིད²⁹⁷། |

ཡིན་ན་དེ་ལྟར་ག་ལ་ཡོད²⁹⁸༥ རེ ॥

ཐམས་ཅད་མི་དྲག་ཅེས་གསུངས་པ་ནི་, འདྲིར་བཤད་པར་བཞེད་པ་
ཤེས་པར་བྱ་ཏེ། གང་གི་ཕྱིར་, མི་དྲག་པའམ་དྲག་པ་ནི་ཅི་ཡང་མེད་དོ།
དངོས་པོ་ཡོད་ན་དྲག་པའམ་མི་དྲག་པ་ཉིད་ཡིན་(དགོས)ན། དངོས་པོ་དེ་
དག་ག་ལ་ཡོད་དེ། མེད་དོ། །ཞེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ༥ རེ ॥

འདྲིར་སྒྲུབ་པ་, འདི་ལྟར་, མདོ་སྤེལ་ས་²⁹⁹རྒྱལ་པར་བརྟན་པས་,
འདོད་ཆགས་དང་, ཞེ་སྤང་དང་, གཏི་སྒྲུག་ནམས་ན་ཡོད་དོ།

འདྲིར་བཤད་པ་—

སྒྲུག་དང་མི་སྒྲུག་ཕྱིན་ཅི་ཡོག |

རྒྱུན་སྒྲུབ་ཆགས་སྤང་གཏི་སྒྲུག་ནམས། |

འབྱུང་སྤེ་དེ་ཕྱིར་རང་བཞིན་གྱིས། |

འདོད་ཆགས་ཞེ་སྤང་གཏི་སྒྲུག་མེད³⁰⁰༥ རེ ॥

གང་གི་ཕྱིར་སྒྲུག་པའི་རྒྱུན་དང་, མི་སྒྲུག་པའི་རྒྱུན་དང་, ཕྱིན་ཅི་ཡོག་
གི་རྒྱུན་ལས་, འདོད་ཆགས་དང་, ཞེ་སྤང་དང་, གཏི་སྒྲུག་ནམས་བྱུང་བ་
དེའི་ཕྱིར། རང་བཞིན་གྱིས་འདོད་ཆགས་དང་, ཞེ་སྤང་དང་. གཏི་སྒྲུག་
ནམས་མེད་དོ༥ རེ ॥

གང་ཕྱིར་དེར་ཆགས་དེར་སྤང་དེར། །

སྤངས་པ་དེ་ཕྱིར་དེ་དག་ནི། །

ནམ་རྟོག་གིས་བསྐྱེད་ནམ་རྟོག་ཀྱང་། །

ཡང་དག་ཉིད་ཏུ་ཡོད་མ་ཡིན³⁰¹༥ ༤༠ ॥

གང་གི་ཕྱིར་, གཅིག་པོ་དེ་ཉིད་ལ་ཆགས་, དེ་ཉིད་ལ་སྤང་, དེ་ཉིད་ལ་སྤངས་པ་དེའི་ཕྱིར། འདོད་ཆགས་དང་, ཞེ་སྤང་དང་, གཏི་སྐྱུག་ནམས་ནི་ནམ་པར་རྟོག་པས་བསྐྱེད་པ་ཡིན་ནོ༥ ༤༠ ॥

གཞན་ཡང་, ་ནམ་པར་རྟོག་པ་དག་ཀྱང་ཡང་དག་པ་མ་ཡིན་ཏེ། ་ནམ་པར་རྟོག་པ་གང་དག་གིས་འདོད་ཆགས་དང་, ཞེ་སྤང་དང་, གཏི་སྐྱུག་ནམ་པར་སྐྱེད་པར་བྱེད་པ་དེ་དག་ཀྱང་ཡང་དག་པར་མེད་དོ། །ཇི་ལྟར་མེད་ཅེ་ན།

དེ་བཤད་པ་—

ནམ་བདག་³⁰²བྱ་གང་དེ་ཡོད་མིན། །

བདག་བྱ་མེད་རྟོག་ག་ལ་ཡོད། །

དེ་ཕྱིར་རྒྱུན་ལས་སྐྱེས་པའི་ཕྱིར། །

བདག་བྱ་ནམ་པར་རྟོག་པ་སྤྱོད་³⁰³༥ ༤༡ ॥

ནམ་པར་བདག་པར་བྱ་བ་གང་ཡིན་པ་དེ་ནི་མེད་དོ། །ནམ་པར་བདག་པར་བྱ་བ་མེད་ན་, ་ནམ་པར་རྟོག་པ་ཡོད་པར་ག་ལ་འགྱུར་ཏེ། རྒྱུན་ལས་སྐྱེས་པའི་ཕྱིར། ་ནམ་པར་བདག་པར་བྱ་བ་ཡང་རང་བཞིན་གྱིས་སྤྱོད་ལ། ་ནམ་པར་རྟོག་པ་ཡང་རང་བཞིན་གྱིས་སྤྱོད་འོ༥ ༤༡ ॥

གཞན་ཡང་³⁰⁴—

ཡང་དག་མཐོང་ཕྱིར་ཕྱིན་ཅི་ཡོག་ |

བཞི་ལས་སྐྱེས་པའི་མ་རིག་མེད། |

དེ་མེད་ཕྱིར་ན་འདྲ་བྱེད་ནམས། |

མི་འབྱུང་ལྷག་མཁའ་དེ་བཞིན་ནོ་³⁰⁵ ॥ ༤༢ ॥

དེ་ལྟར་ཡང་དག་པར་རྟོག་པས་ཕྱིན་ཅི་ཡོག་བཞི་ལས་སྐྱེས་པའི་མ་རིག་
པ་མེ་འབྱུང་ངོ། | དེ་མེད་པའི་ཕྱིར་ན་མ་རིག་བ་དེ་མེད་³⁰⁶པས་, འདྲ་
བྱེད་ནམས་མི་འབྱུང་ཟླ། དེ་བཞིན་དུ་ལྷག་མ་མི་འབྱུང་ངོ། ॥ ༤༢ ॥

གཞན་ཡང་:—

གང་བརྟེན་གང་སྐྱེས་དེ་དེ་ལས། |

སྐྱེས་དེ་དེ་མེད་མི་འབྱུང་ངོ། |

དངོས་དང་དངོས་མེད་འདུས་བྱས་དང་། |

འདུས་མ་བྱས་ཤིང་³⁰⁷ཕྱང་ན་འདས་³⁰⁸ ॥ ༤༣ ॥

གང་ལ་བརྟེན་ནས་གང་སྐྱེས་པ་དེ་(ཉིད་)ནི་, དེ་ལས་སྐྱེས་པ་ཡིན་དེ།
དེ་མེད་ན་མི་འབྱུང་། | དངོས་(པོ་)དང་དངོས་པོ་མེད་པ་ཞི་བ་དང་། འདུས་
བྱས་དང་འདུས་མ་བྱས་ཞི་བ་དང་། ཕྱང་ན་ལས་འདས་པ་ཡིན་ནོ། ॥ ༤༣ ॥

གཞན་ཡང་:—

ཕྱི་དང་ཀྱིན་ལས་སྐྱེས་དངོས་ནམས། |

ཡང་དག་པར་³⁰⁹ནི་རྟོག་པ་གང་། |

བརྟེན་པའི་དངོས་པོར་མངོན་པར་ཞེན་པ་དང་། ལྷ་བ་དང་། རྟོག་

བ་དང་, འཛིན་པ་³¹⁰

དེ་ནི་སྟོན་པས་མ་རིག་གསུངས། ।

དེ་ལས་ཡན་ལག་བཅུ་གཉིས་འབྱུང་༥ ༤༥ ॥

གཞན་ཡང་—

ཡང་དག་མཐོང་སྤྱིར་དངོས་སྟོང་བར། ।

ལེགས་ཤེས་མ་རིག་མི་འབྱུང་བ³¹¹། ।

དེ་ནི་མ་རིག་འགོག་པ་ཡིན། ।

དེ་སྤྱིར་³¹²ཡན་ལག་བཅུ་གཉིས་འགག༥ ༤༦ ॥

དངོས་པོ་དེ་དག་རང་བཞིན་གྱིས་³¹³སྟོང་བ(ར)ཡང་དག་པ་ཐིམ་བ་
བཞིན་དུ་ལེགས་པར་ཤེས་³¹⁴ན་, མ་རིག་པ་མི་³¹⁵འབྱུང་བ་དེ་ཉིད་³¹⁶
མ་རིག་པ་འགོག་པ་ཡིན་ནོ། །དེ་སྤྱིར་ཡན་ལག་³¹⁷བཅུ་གཉིས་འགོག་
གོ༥ ༤༧ ॥

ཅེས་སྤྱིར་ཞེས།

འདུ་བྱེད་དེ་ཟེའི་གྲོང་ཁྱིམ་དང་། ।

སྐྱུ་མ་སྐྱེག་སྐྱུ་ཆུ་བྱར་དང་། ।

ཆུ་ཡི་དབུ་བ་མཚུངས་པ་སྟེ། ।

མི་ལམ་མགལ་མེད་འཁོར་ལོ་འདྲ་³¹⁸༥ ༤༨ ॥

གང་གི་སྤྱིར་, ཡོངས་སུ་བདགས་ནས་, འདུ་བྱེད་ནམས་སྐྱུ་མ་དང་
སྐྱེག་སྐྱུ་དང་, དེ་ཟེའི་གྲོང་ཁྱིམ་དང་འདྲ་བ་དེ་སྤྱིར། རང་བཞིན་གྱིས་སྟོང་
བར་དེ་དག་ལེགས་པར་ནམ་བུར་ཤེས་ན་³¹⁹ མ་རིག་པ་མི་འབྱུང་བ་

དེ་ཉིད་, མ་རིག་པ་འགོག་པ་ཡིན་དེ། དེའི་ཕྱིར་, ཡན་ལག་བཅ་གཉིས་
འགག་པར་འགྱུར་རོ། ༣༦ ॥

རང་བཞིན་གྱིས་ནི་དངོས་འགགས་མེད་320། །

འདི་ལ་དངོས་པོ་མེད་པའང་མེད། །

གྱུ་དང་རྒྱུན་ལས་སྦྱེས་པ་ཡི། །

དངོས་དང་དངོས་མེད་སྟོང་པ་ཡིན་321། ༣༧ ॥

བཅའ་ན་དོན་དམ་པར་རང་བཞིན་གྱིས་དངོས་པོ་འགའ་ཡང་མེད་ལ།
འདི་ལ་དངོས་པོ་མེད་པ་འགའ་ཡང་མེད་དེ། གྱུ་དང་རྒྱུན་ལས་སྦྱེས་པའི་
དངོས་པོ་དང་, དངོས་པོ་མེད་པ་ནི་སྟོང་པ་ཡིན་ནོ། ༣༧ ॥

དངོས་པོ་ཐམས་ཅད་རང་བཞིན་གྱིས། །

སྟོང་པ་ཡིན་པས་དངོས་རྣམས་ཀྱིས། །

རྟེན་འབྱུང་དེ་ནི་དེ་བཞིན་གཤེགས། །

མཚུངས་པ་མེད་པས་322ཉི་བར་བསྟན་323། ༣༨ ॥

དངོས་པོ་ཐམས་ཅད་རང་བཞིན་གྱིས་སྟོང་པ་ཡིན་པས། དངོས་
པོ་རྣམས་ཀྱི་བརྟེན་324ནས་འབྱུང་པ་འདི་, དེ་བཞིན་གཤེགས་པས་ཉི་བར་
བསྟན་ནོ། ༣༨ ॥

དམ་པའི་དོན་ནི་དེར་ཟད་དོ། །

སངས་རྒྱས་བཅོམ་ལྷན་འདས་ཀྱིས་ནི། །

འཛིག་རྟེན་ཐ་སྙད་བརྟེན་ནས་སྟུ། །

སྤྱོད་ཚུགས་ཐམས་ཅད་ཡང་དག་བདགས་325། ༣༩ ॥

དོན་དམ་པར་ནི་, རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་བར་འབྱུང་བའི་དངོས་པོ་ཐམས་ཅད་
རང་བཞིན་གྱིས་སྤོང་ངོ་, ཞེས་བྱ་བ་དེར་ཟད་དོ། །སངས་རྒྱས་བཅོམ་ལྷན་
འདས་ཀྱིས་ནི་, འཛིག་རྟེན་པའི་ཐ་སྟེད་ལ་བརྟེན་ནས། ལྷ་ཚོགས་མ་ལུས་པ་
ཐམས་ཅད་ཡང་དག་པ་དེ་བཞིན་ཉིད་དུ་བརྟགས་326པར་མཛད་327དོ། ། ༤༦།

འཛིག་རྟེན་པ་ཡི་བསྟན་མི་འཛིག་ |

ཡང་དག་ཚོས་བསྟན་328ཅི་ཡང་མེད། |

དེ་བཞིན་གཤེགས་བཤད་མ་རྟོགས་ནས། |

དེ་ཕྱིར་སྐྱབ་རྟོག་མེད་འདིར་སྐྱབ་329། ཡོ །

འཛིག་རྟེན་པའི་ཚོས་བཤད་པ་གང་ཡིན་པ་དེ་ཡང་མི་འཛིག་ལ། ཡང་
དག་པར་ན་ནམ་ཡང་ཚོས་བསྟན་པར་མཛད་པ་མ་ཡིན་ནོ། །དེ་ལྟར་བརྟེན་
པའི་(བསྟན་པའི་) དོན་ནམ་པར་330མ་ཤེས་དེ། དེ་བཞིན་གཤེགས་བས་
བཤད་པ་མ་རྟོགས་ནས་, དེའི་ཕྱིར་སྐྱོངས་པ་ནམས་, སྐྱབ་པ་རྟོག་པ་མེད་པ་,
མཚན་ཉིད་མེད་པ་འདི་ལ་སྐྱབ་པར་འབྱུང་རོ། ། ཡོ །

འདི་བརྟེན་331འདི་འབྱུང་ཞེས་བྱ་བའི་332།

འཛིག་རྟེན་སྐྱབ་འདི་འགོག་མི་མཛད། |

རྟེན་འབྱུང་གང་དེ་རང་བཞིན་མེད། |

ཇི་ལྟར་དེ་ཡོད་གང་དག་ངེས་333། ཡོ །

འདི་ལ་བརྟེན་ནས་འདི་འབྱུང་ངོ་334། ཞེས་བྱ་བའི་འཛིག་རྟེན་པའི་
སྐྱབ་པ་འདི་ནི་མི་འགོག་གོ། །བརྟེན་ནས་སྐྱེས་པ་གང་ཡིན་པ་འདི་ནི་,
རང་བཞིན་གྱིས་མེད་ན། གང་མེད་པ་དེ་ནི་ཇི་ལྟར་ཡོད་, ཅེས་བྱ་བའི་ནི་

དེའི་ངེས་པ་ཡིན་ནོ། ༥༡ ॥

དང་ལྷན་ཡང་དག་ཚེ་ལ་ལྷན་ཡེན། ।

ཚེས་བསྟན་གང་ལའང་མི་བརྟེན་པ། ।

སྐྱབ་འདི་335རིགས་པས་རྗེས་གཉིས་ཏེ། ।

དངོས་མེད་དངོས་མེད་སྤངས་ན་ཞི336༥ ༥༢ ॥

དང་པ་དང་ལྷན་པ་, ཡང་དག་ཚེ་ལ་ལྷན་ཡེན་པ་, ཚེས་བསྟན་པ་
གང་ལ་ཡང་མི་བརྟེན་པ་འགའ་ཞིག་, 337 བསྐྱབ་པ་འདི་རིག་པས་རྗེས་སྐྱ་
གཉིས་ཞིང་། རྗེས་སྐྱ་འདོད་པ་ནི་, དངོས་པོ་དང་, དངོས་པོ་མེད་པ་སྤངས་
ནས་ཞི་བར་འགྱུར་རོ། ༥༢ ॥

ཀྱིན་ཉིད་འདི་པ་འདི་ཤེས་ནས། ।

ལྷ་ངན་དྲ་བའི་དོག་པ་ལྡོག། ।

ཆགས་མེད་ས་ཁོང་ཁྲོ་སྤངས་338ལྟར་ཏེ།

མ་གོས་སྐྱ་ངན་འདས་ཉིད་འགྲོ339༥ ༥༣ ॥

སྟོང་པ་ཉིད་བདུན་ཅུ་པའི་བཤད་པ་, སྟོབ་340དཔོན་འཕགས་པ་ལྷ་
སྐྱབ་ཀྱི་མཛད་པ་རྒྱལ་སོ། ॥

ཀྱ་གར་གྱི་མཁན་པོ་ཇི་ན་མི་དྲ་དང་། ལྷ་ཆེན་གྱི་ཡོ་རྩུ་བ་བརྗེ་ཡེ་ཤེས་
སྟེ་ལ་སོགས་པས་ལྷས་ཏེ་གདན་ལ་ཕབ་པའོ341༥ ॥

ཟུང་བཞུགས།

དབང་ཕྱག་བྱེད་པ་པོ་ཉིད་སེལ་བ་།

སངས་རྒྱས་ལ་ཕྱག་འཚལ་ལོ།²

སྒྲ་མའི་ཞབས་ཀྱི་ཚུ་སྦྱོས་དང་། །

དོར་སེམས་ལའང་གྲུས་བདུན་ནས། །

སྒྲོབ་མ་བཟང་པོས་དྲོགས་བྱའི་ཕྱིར། །

བདག་གིས་བརྟེ་བས་བྱི་བར་བྱ།³ །

1) ཟུང་མཚན་—བརྟན་བཅོས་འདིའི་མཚན་དུ་སྒྲ་བརྟན་མ་དཔེར་,—“དབང་ཕྱག་བྱེད་པ་པོ་ཉིད་སེལ་བ་དང་, རྩལ་འཇུག་བྱེད་པ་པོ་གཅིག་ཉིད་སེལ་བར་བྱེད་པ་ཞེས་བྱ་བ།” ཞེས་འདུག་ཀྱང་། གཞུང་དུ་ནི་དབང་ཕྱག་བྱེད་པ་པོ་སེལ་བ་ལས་, རྩལ་འཇུག་བྱེད་པ་གཅིག་ཉིད་སེལ་བའི་རིགས་མ་ལོགས་སུ་མི་མངོན་ནོ། །མཚན་དེ་མཛོས་བར་ཡང་མི་སྤང་ངོ་། །དོན་ལ་ནམ་གཅིད་, “དབང་ཕྱག་བྱེད་པ་པོ་ཉིད་སེལ་བས་, རྩལ་འཇུག་བྱེད་པ་པོ་གཅིག་ཉིད་སེལ་བར་བྱེད་པ་ཞེས་བྱ་བ་” ཞེས་བར་མངོན་ནོ། །

2) “སངས་རྒྱས་ལ་” ཞེས་སོགས་འདི་, ལོ་རྒྱུ་སྒྲ་ཆོས་སྦྱོང་བཟང་བོའི་འགྱུར་ཕྱག་ཡིན་ཀྱི་, གཞུང་དངོས་ཀྱི་ཆོག་ནི་མ་ཡིན་ནོ། །

3) “སྒྲ་མའི་ཞབས་” ཞེས་སོགས་ཀྱི་མཆོད་བཞེད་ཀྱི་ཆོག་འདི་ལ་བདག་གླ་གཞུང་འདི་—ཁྱེ་སྒྲུབ་ཀྱི་ཡིན་པར་མི་མངོན་དེ། མདོ་གཞུང་འཆད་ཆོ་ “དོར་སེམས་”ལ་མཆོད་བཞེད་མཛད་པ་, འཕགས་པའི་གཞུང་གང་ན་ཡང་མི་སྤང་ངོ་། །འདྲི་སྒྲོབ་དབུན་ལས་ཁ་གཡར་པ་མིན་ནམ་དཔྱད། ཕྱི་འབྲུང་གི་གྲུབ་ཐོབ་འགའ་ཞིག་གསལ་དེ་ལྟར་མཛད་སྤང་ངོ་། །

ཡང་དབང་ཕྱག་བྱེད་པ་པོ་ཉིད་ཡོད་ཅེས་པ་འདི་ལ་ནམ་པར་དབྱེད་
པར་བྱའོ། །གང་བྱེད་པ་དེ་བྱེད་པ་པོ་དང་། གང་བྱ་བ་བྱེད་པ་དེ་བྱེད་པ་
པོ་འི་མིང་ཅན་¹འགྱུར་ན། འདི་ལ་ཡང་ཁོ་པོ་ཅག་²སྒྲུ་ལྟེ། ཅི་འདི་གྲུབ་
པ་ཞིག་བྱེད་དམ་, འོན་ཏེ་མ་གྲུབ་པ་ཞིག་བྱེད།

དེ་ལ་གྲུབ་པ་ནི་, དེ་གི་ག་མི་བྱེད་དེ། སྒྲུབ་བྱེད་མེད་པའི་ཕྱིར་རོ། །
དཔེར་ན་གང་ཟླ་འགྲུབ་པ་ལ་ཡང་གྱུར་བྱེད་པ་ཉིད་བྱེད་པ་པོར་མེད་དེ།
སྒྲུ་ཉིད་ཀྱི་གྲུབ་པའི་ཕྱིར་རོ། །ཅི་ལྟེ་མ་གྲུབ་པ་བྱེད་ན་, བྱེ་མ་ལས་དྲིལ་མར་
མ་གྲུབ་པ་དང་། ཅུས་སྤལ་གྱི་སྒྲུ་ལ་སོགས་པ་མ་གྲུབ་པས་, དེ་ལྟར་བྱོས་³།

དེ་ཉིད་བྱེད་ན་ཡང་འདྲིར་བྱེད་པ་པོ་ཉིད་ཀྱིས་མི་འགྲུབ་སྟེ། ཅི་ལས་
གེ་ན། དངོས་པོ་མ་གྲུབ་པའི་ཕྱིར་རོ། །དེ་བཞིན་དུ་འདི་⁴ཡང་ངོ་། །ཅི་
ལྟེ་གྲུབ་པ་དང་, མ་གྲུབ་པ་བྱེད་ན་? དེ་ཡང་མི་འཐད་དེ། བན་ཚུན་འགལ་

1 མིང་དུ་འགྱུར་ གྲུ་བཟུན་པོ་, ཤོག་ཤོག་ ༣༡༣ ། ལྷ་ཚོང་།

2 བྱེད་ནམས་ལ་སྒྲུ་ལྟེ། — གྲུ་བཟུན། དེ་ཉིད།

3 “དེ་ལྟར་བྱོས་” — ཞེས་པ་གྲུ་བཟུན་པ་མེད།

ཟུར་མཆན་:— འོན་ཀྱང་འདྲིའི་དོན་ནི་= ལྷ་གྲུ་ལྟེ་བྱེད་པ་ཞིག་གྲུས་བྱེད་ན་,
ཅུས་སྤལ་གྱི་སྒྲུ་ལ་སོང་པ་མེད་པ་ནམས་ཀྱང་, ལྷ་གྲུ་ལྟེ་བྱེད་པར་བྱོས་གིག་
ཅེས་པའོ། །གོང་གི་ཚིག་དོན་གཞན་ནམས་ནི་གོ་སྒྲུ་འོ། །

4 (ཀ) འདྲིའོ་, གྲུ་བཟུན་ ཤོ་ དེ་ཉིད།

(ཁ) འདྲིས་ཅི་ལྟེ་གྲུབ་པ་དང་མ་གྲུབ་པ་བྱེད་ན་ ཅོ་བཟུན།

བའི་ཕྱིར་རོ། །ཁང་གྲུབ་པ་དེ་གྲུབ་པ་ཉིད་དང་། ཁང་མ་གྲུབ་པ་དེ་ཉིད་
 མ་གྲུབ་པ་ལྟེ། དེ་ལྟར་ན་རེ་ཞིག་¹འདི་དག་པན་ཚན་འགལ་བ་ཉིད་ཀྱི་ཕྱིར་རོ།
 དཔེར་ན་སྒྲིང་བ་དང་ཐུན་བ་དག་དང་། ཁང་གསོན་པ་དང་ཤི་བ་དག་²
 བཞིན་ནོ། །ཡང་ཁང་ན་སྒྲིང་བ་ཡོད་པ་དེ་ན་ཐུན་བ་མེད་དོ། །ཁང་ན་ཐུན་
 བ་ཡོད་པ་དེ་ན་སྒྲིང་བ་མེད་པ་ཉིད་དོ། །ཁང་གསོན་པ་རེ་ནི་གསོན་པ་ཉིད་
 དང་། ཁང་ཤི་བ་རེ་ནི་ཤི་བ་ཁོ་ན་ལྟེ། དེ་ཉིད་ཀྱི་ཕྱིར་གྲུབ་པ་དང་, མ་
 གྲུབ་པ་དག་གཅིག་པ་མེད་པའི་ཕྱིར། དབང་ལྷན་བྱེད་པ་པོ་ཉིད་ཏུ་ཡོད་
 བ་མིན་པ་འདི་ཉིད་དོ་, ཞེས་འདོད་དོ་།

1 (ཀ) एवं तावत् = ཡང་། །

(ཁ) “རེ་ཞིག” — ཞེས་པ་སྡེ་བཞུན་ལ་མེད་ ཤོག, ཉིད་,

2 ཤི་བ་དང་ — སྡེ་བཞུན་དེ་ཉིད་

3 ཟུར་མཆན་:— དེ་ལ་འདིར་བྱེད་པ་པོ་ཉིད་ཀྱིས་མི་འགྲུབ་ཅེས་སོགས་ཀྱི་
 དེན་ནི་, གྲུབ་པའམ་སྡེ་བའི་བྱེད་པ་པོ་འམ་དེན་ནི་, ལྷན་གྱི་ལྷ་བྱ་མ་གྲུབ་ཅིང་
 སྡེ་གྲུའི་ཆོས་ཁང་ཡིན་པ་དེ་ཡིན་ལ། ཅུས་སྤྲུལ་གྱི་སྤྲུའམ་མ་སྡེས་པའི་ལྷན་གྱི་
 སོགས་ནི་, དངོས་པོ་འམ་ཡོད་པ་མ་ཡིན་པས་, དེ་དག་གྲུབ་པའམ་སྡེ་བའི་
 དེན་ཏུ་མི་འཐད་དོ། །ཅུས་སྤྲུལ་གྱི་སྤྲུ་སོར་སྡེས་པ་དང་གྲུབ་པའི་བྱ་བའི་དེན་
 མ་ཡིན་པ་བཞིན་ཏུ་, ལྷན་གྱི་སོགས་འདི་དག་ཀྱང་དོ།

“ཅི་སྟེ་གྲུབ་པ་དང་, མ་གྲུབ་པ་”— ཞེས་པ་ནི་གྲུབ་མ་གྲུབ་གཉིས་ཀའི་
 རང་བཞིན་ཏུ་གྱུར་པའི་འབྲས་བུ་བྱེད་ན་, དེ་ཡང་མི་འཐད་དོ། རང་བཞིན་
 གཅིག་ལ་, གྲུབ་མ་གྲུབ་ལྷ་བྱའི་པན་ཚན་སྤངས་དེ་གནས་པའི་ཆོས་འགལ་བ་

(རྒྱུ་མཆན་འབྲིས་)

གཉིས་འདུས་པ་མི་སྤྲོད་པས། དེ་དབང་ཕྱག་གི་བྱས་པར་མི་འགྱུར་རོ། །
དཔེར་ན་སྤང་ཕྱན་ལ་སོགས་པ་བཞིན་ནོ། །དེ་ལྟར་ན་བྱས་པ་མ་གྲུབ་པས་
དབང་ཕྱག་བྱེད་པོར་ཁོ་བོ་ཅག་མི་འདོད་དོ་, ཞེས་བཤོ། །འདི་དག་ནི་,
བྱས་པ་ལ་བདག་ནས་བྱེད་པ་བོ་འགོག་བའི་རིགས་པ་ཡིན་ནོ།

བྱེད་པ་བོ་འི་རང་བཞིན་ལ་བདག་སྟེ་དེ་ཉིད་འགོག་པ་ནི་—སྤྱི་འབྲིན་
གཞན་ཡང་, ཞེས་སོགས་དེ། དེ་ཡང་སྤྱིར་འབྲས་བུ་སྟེད་བའི་“བྱ་བ་”དེ་
ནི་མི་དྲག་པ་ཡིན་པར་གྲུབ་མཐའ་སྤྱི་བ་ཀྱན་འདོད་ལ། བྱ་བ་དེ་གང་གིས་
བྱེད་པ་དེ་ལ་བྱེད་པོར་འཛིག་པ་ལ་ཡང་མི་མཐུན་པ་མེད་དོ། །དེ་ལ་འདིར་
དབང་ཕྱག་བྱེད་པོར་འདོད་པ་དེ་, དེ་ལྟ་བུའི་རྒྱུའི་རང་བཞིན་དུ་གྲུབ་པ་ཞིག་
གིས་འཛིག་དེན་བྱེད་པར་འདོད་དམ་, འོན་ཏེ་མ་གྲུབ་པ་ཞིག་གིས་བྱེད་པར་
འདོད། གཉིས་པ་མི་འཐད་དེ་, རང་ཉིད་རྒྱུའི་ངོ་བོར་མ་གྲུབ་ན་, འབྲས་
བུའི་བྱེད་པོར་གྲུབ་པ་མི་སྤྲོད་བའི་ཕྱིར་རོ། །དང་བོ་ལྟར་ན་, དེ་ལྟ་བུའི་དབང་
ཕྱག་དེ་རྒྱུའི་ངོ་བོར་རང་གི་བདག་ཉིད་ལས་གྲུབ་ཅིང་སྟེ་བ་ཡིན་ནམ་, འོན་
དེ་གཞན་ལས་ཡིན་? དང་བོ་མི་འཐད་དེ། རང་གི་རང་ལ་བྱ་བ་འཇུག་པ་
མི་སྤྲོད་ཅིང་། འཇུག་ནའང་རང་གི་ངོ་བོ་ལ་བྱ་བྱེད་གཉིས་ཡོད་པར་འདོད་
དགོས་པས། དེ་དྲག་པ་, གཅིག་བྱ་བ་དེན་པ་ཡིན་པ་ཉམས་པར་འགྱུར་རོ།

དབང་ཕྱག་ཉིད་བསྟེན་བྱ་དང་, སྟེན་བྱེད་དུ་འདོད་པའང་མི་འཐད་དེ།
གང་ཟག་གཅིག་ཉིད་རང་ཉིད་རང་ཉིད་ཀྱི་པ་ཡང་ཡིན་ལ་, བྱ་ཡང་ཡིན་པ་མི་
སྤྲོད་བའི་ཕྱིར་རོ། །འདི་ནི་མངོན་སུམ་དང་། འཛིག་དེན་གྱི་གྲགས་པ་
གཉིས་ཀ་དང་འགལ་ལོ་, ཞེས་བཤོ།

སྐྱུ་འབྱུང་གཞན་ཡང་འབྱུང་དེ། ཅི་རང་ཉིད་སྦྱེས་པས་གཞན་བྱེད་
 དམ་, འོན་དེ་མ་སྦྱེས་པས་བྱེད། རང་ཉིད་མ་སྦྱེས་པས་ནི་རེ་ཤིག་གཞན་
 བྱེད་པར་མི་རྒྱས་དེ། ཅི་འདྲི་ཕྱིར་ན། རང་ཉིད་མ་སྦྱེས་པའི་ངོ་བོ་ཡིན་པའི་
 ཕྱིར་རོ། །དཔེར་ན་མོ་གཤམ་གྱི་བྱ་ནི་མ་སྦྱེས་པས་, ས་ཀློ་བ་ལ་སོགས་
 པའི་བྱ་བ་ལ་མི་འཇུག་པ་བཞིན་ནོ། །དེ་བཞིན་དུ་དབང་ཕྱུག་ཀྱང་ངོ་།

ཅི་སྦྱེ་རང་ཉིད་སྦྱེས་པས་གཞན་བྱེད་ན། དེའི་ཆོ་རང་ངས་, གཞན་ནས་,
 གཉིས་ཀ་ལས་སམ་, ཅི་ཞིག་ལས་སྦྱེ? འདིར་རེ་ཤིག་¹རང་ལས་སྦྱེས་
 པ་²ནི་མ་ཡིན་དེ། རང་གི་བདག་ཉིད་ལ་བྱ་བ་འགལ་བའི་ཕྱིར། ཆེས་ཆོ་
 བའི་རལ་གྱི་འོས་ཀྱང་རང་གི་བདག་ཉིད་ལ་གཅོད་པར་རྒྱས་པ་མེད་ལ།
 ལེགས་པར་བསྐྱབས་པའི་གར་མཁན་མཁས་པས་ཀྱང་རང་གི་ཕྱག་བ་ལ་ཞོན་
 ནས་གར་བྱེད་རྒྱས་པ་མེད་དོ།

ཡང་ཅི་རང་ཉིད་ཁོ་ན་བསྐྱེད་བྱ་དང་, རང་ཉིད་ཁོ་ན་སྐྱེད་བྱེད་དོ, ཞེས་
 དེ་ལྟར་⁴བརྩ་ཞིང་འདོད་ན། རང་ཉིད་ཁོ་ན་པ་དང་, རང་ཉིད་ཁོ་ན་བྱའོ,
 ཞེས་ཟེར་བ་དང་འདྲ་སྟེ། འདི་ནི་འཇིག་རྟེན་ན་གྲགས་པ་ཡང་མེད་དོ།

-
- 1) རེ་ཤིག་—ཞེས་པ་སྟེ་བསྐྱེད་དུ་མེད། ཤོག 323 །
 - 2) སྦྱེས་པས་— སྟེ་བསྐྱེད་, ཤོག 323 །
 - 3) མེད་དེ་— སྟེ་བསྐྱེད་, དེ་ཉིད།
 - 4) འདི་ལྟ་བུ་ཞིང་,—སྟེ་བསྐྱེད་, དེ་ཉིད།

ཅི་ལྟར་¹གཞན་པ་ཉིད་ཀྱིས་ཀྱང་བྱེད་པ་མི་འཐད་དེ། ཅི་སྲིད་དབང་ཕྱུག་
ལས་²ཐད་དང་པ་གཞན་མེད་པའི་ཕྱིར་རོ། ཅི་ལྟར་བརྟུན་པས་འགྱུར་རོ་
ཞེན་? དེ་ལྟར་³ གཞན་ལས་ཀྱང་ཕྱུག་པ་མེད་པར་ཐལ་བར་འགྱུར་དེ།
ཐོག་མ་⁴མེད་པའི་རང་བཞིན་ཡིན་པའི་ཕྱིར་རོ། ཀལ་ལ་དང་པོ་(ཐོག་མ་)
ཡོད་པ་མིན་པ་དེའི་མཐའ་ཡང་སྲུན་འབྱེན་པ་མེད་པ་ཉིད་དོ། ཁ་བོན་མེད་
ན་ཕྱ་གྲ་དང་, སྤང་བྱ་དང་, ཡལ་ག་དང་, ལོ་མ་རང་, མེ་དོག་དང་།
འབྲས་བྱ་སོགས་མེད་པར་འགྱུར་དེ། ཅི་ལས་ཞེན་? ཁ་བོན་མེད་པའི་ཕྱིར་རོ།

གཉིས་ཀྱི་⁵ལས་ཀྱང་མ་ཡིན་དེ། གཉིས་ཀྱི་སྒྲིན་གྱིས་སྲུན་ཕྱང་བའི་
ཕྱིར་རོ། ཉེའི་ཕྱིར་, ‘བྱེད་པ་པོ་’-མ་གྲུབ་པོ།

ཞེས་དབང་ཕྱུག་བྱེད་པ་པོ་ཉིད་སེལ་བ། སྒྲོབ་དཔོན་དཔལ་
ལྷན་ཁྲུ་སྐྱབ་ཀྱི་ཞལ་སྒྲ་ནས་མཛད་པའོ།

1) རྩར་མཆན་:—གཞན་ལས་སྒྲིས་པའི་དབང་ཕྱུག་མི་འཐད་པར་སྒྲོན་པ་ནི་,
“ཅི་ལྟར་གཞན་པ་ཉིད་”ཅེས་སོགས་དེ། དེ་ཡང་དབང་ཕྱུག་དེ་བྱེད་པ་པོར་
གཞན་གྱིས་སྒྲིད་པའམ་བྱེད་པར་འདོད་པ་ཡང་མི་རིགས་དེ། དབང་ཕྱུག་
ལས་གཞན་པའི་བྱེད་པོ་མེད་པའི་ཕྱིར་རོ། ཉེགས་འདི་ནི་གྲུབ་པའི་མཐའ་
ལས་ཁས་ཁྲུངས་པ་ཡིན་ནོ། ཉེ་ལྟར་དབང་ཕྱུག་དེའི་དངོས་ཀྱི་བྱེད་པ་པོ་
མི་སྲིད་པར་བཟུན་ནས་, བརྟུན་ནས་ཀྱང་དེའི་བྱེད་པ་པོ་འམ་སྒྲིད་བྱེད་མེད་
པར་སྒྲོན་པ་ལ—

ཅི་ལྟར་བརྟུན་པས་འགྱུར་རོ་, ཞེས་སོགས་དེ། ཀལ་དེ་དབང་ཕྱུག་གིས་
དང་པོར་འཛིག་དེན་བྱེད་འདོད་ཀྱི་ཁྲོད་དང་, ལྷན་པ་སོགས་བསྐྱེད་པར་བྱས་དེ།

(ཆུང་མཆན་འབྲེས་)

སྐར་དེ་ལྟ་བུར་སྒྲོ་ཉུས་སོགས་ཀྱིས་, རང་ཉིད་གང་ལ་ལྷན་པའི་དབང་ཕྱུག་དེ་
 འཛིག་རྟེན་གྱི་བྱེད་པོར་སྐྱེད་པའམ་, དེར་སྐྱབ་པར་བྱེད་པས་, དབང་ཕྱུག་དེ་
 འཛིག་རྟེན་གྱི་བྱེད་པོར་དབང་ཕྱུག་ཉིད་ལས་བརྒྱུད་ནས་སྐྱེ་ས་པར་འགྱུར་རོ་
 ཞེན་? དེ་ཡང་མི་འཐད་དེ། དེ་ལྟར་ན་, འཛིག་རྟེན་གྱི་དངོས་ཀྱི་བྱེད་པོ་
 དེ་ལས་གཞན་, དེའི་རྒྱུར་གྱུར་རྟོག་པའི་དབང་ཕྱུག་དེ་ལ་ཡང་གོང་དུ་བཞུགས་
 པའི་སྐྱོན་དེ་ཀྱན་མཚུངས་པར་འཇུག་པས་, ཐུག་མེད་དུ་ཐལ་པར་འགྱུར་ཏེ།
 དབང་ཕྱུག་ནི་ཐོག་མ་མེད་པའི་རང་བཞིན་ཡིན་པའི་ཕྱིར་རོ། །གང་ལ་ཐོག་
 མ་ཉིད་མེད་ན་དེའི་མཐའ་མི་སྤྱད་པས་, དེ་ཉིད་སུན་འབྱེན་པ་ཡང་མེད་དོ། །
 དཔེར་ན་, ས་བོན་མེད་ན་, སྤུ་གུ་སོགས་མི་སྤྱད་པ་བཞིན་ནོ།

དབང་ཕྱུག་དེ་, འཛིག་རྟེན་གྱི་བྱེད་པོར་, རང་གཞན་གཉིས་ཀ་ལས་ཀྱང་
 མི་གྲུབ་སྟེ། གཉིས་ཀ་སུན་སྤང་ཅིན་པའི་ཕྱིར་རོ། །འདྲི་དག་ནི་མཐའ་
 གཞན་འགོག་པའི་རིགས་པ་ཅམ་ལས་, སྐབས་ཀྱི་གྲོལ་པ་ལ་དངོས་སུ་ཁས་
 ལེན་ཡོད་པ་ནི་ས་ཡིན་ལ། ཁས་ལེན་ནི་ཕྱོགས་དང་བོ་དབང་ཕྱུག་རང་
 བཞིན་གྱིས་བྱེད་པོར་གྲུབ་པ་ཉིད་དོ།

2) གི་ཐ་དད་— སྟེ་བརྟན།

3) དེ་ལྟ་བུར་གཞན་ལས་— སྟེ་བརྟན།

4) ཐོག་པ་མེད་— དེ་ཉིད།

5) གཉིས་ལས་ཀྱང་— དེ་ཉིད། ཤོག་མ ༣༣༩ ། ལྷ་ཚོགས་, བོ།)

ཤོག་གྲངས་གཅིག་ནས་བཞི་བརྒྱ་ཞིག་གསུམ་བར་གྱི་མཆན་རྒྱུ་བཞོལ།

[ཨང་རིམ་བཞིན་གྲགས་དགོས།]

- 1 (ཀ) ཤུཊ་སྒྱུ་རྒྱུ་རྒྱུ་རྒྱུ་རྒྱུ་-མེ་ཙ་ཤོག་ ༡༠ | དབྱ་ཙ།
(ཁ) ཤུཊ་སྒྱུ་སྒྱུ་རྒྱུ་རྒྱུ་-མེ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༡ | དེ་ཉིད།
(ག) ཤུཊ་སྒྱུ་སྒྱུ་རྒྱུ་རྒྱུ་- |
(ང) ཤུཊ་སྒྱུ་སྒྱུ་རྒྱུ་རྒྱུ་-སྒྲ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༢ | དེ་ཉིད།
(ཅ) ཤུཊ་སྒྱུ་རྒྱུ་རྒྱུ་རྒྱུ་-སྒྲ་ཞོལ་སྒྲ་ཙ་ཤོག་ ༡༣ | དེ་ཉིད།
- 2 གནས་བའི་-སྒྲ་རིག་ཤོག་ ༡༤ | དབྱ་ཙ།
- 3 མཉམ་དང་-སྒྲ་ཙ་ཤོག་ ༡༥ | དབྱ་ཙ། | ༡-བེ་ཉི་ཤོག་ ༡༦ | ཞོལ་ཙ་ཤོག་ ༡༧ | དབྱ་ཙ།
- 4,5,6 སྒྲ་དབང་གིས་-མེ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༨ | དེ་ཉིད། བསྐྱེད་དབང་གིས་
སྒྲ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༩ |
- 7 གསུངས་གིས་-སྒྲ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༩ | དབྱ་ཙ།
- 8 གསུང་གིས། ཡིག་རྒྱུ་ཤོག་ ༢༠ |
- 9 ‘དམན་བའམ་’-སྒྲ་འབྲེལ་ཤོག་ ༢༡, ཉི་འབྲེལ་ཤོག་ ༢༢
- 10 སངས་རྒྱུ་གསུངས་ཀྱི་-སྒྲ་འབྲེལ་ཤོག་ ༢༣ | ཉི་འབྲེལ་ཤོག་ ༢༤ | དེ་ཉིད།
- 11,12 སྒྲ་སྒྲུ་རང་འབྲེལ་གཉིས་ཀར་ “དེ་ཁོ་ནའི་དབང་གིས་” ཞེས་
འདུག་ཀྱང་, འདིའི་སྐད་དོན་ལ་ “དེ་ཉིད་” ཞེས་ཡོད་ལ་, དེ་ནི་ “དེ་ཁོ་ན་
ཉིད་ལས་” ཞེས་བ་ཡིན་པས་-“དབང་གིས་” ཞེས་བ་དོན་འགྱུར་རོ།
- 13 འགའ་མེད།-མེ་ཙ་ཤོག་ ༢༥ |

- 14 བཟོད་བྱ་བྱ་རམ་འདའ་དང་མཚའ་ས། རང་ས་པོ་ཀུན་གྱི་རང་བཞིན་སྤྱོད་༥
 མྱེ་ཙ་ འོག་༠ ༢༠ ། ལྷ་ཙ་ འོག་༠ ༢༡ ། ལྷ་ཙ་ འོག་༠ ༢༡ ། ཉི་ཙ་
 འོག་༠ ༢༢ བོང་།
- 15 ཐམས་ཅད་ཀྱང་-སྤྱ་འབྲེལ་ འོག་༠ ༡༡༧ ། ཉི་འབྲེལ་ འོག་༠ ༡༢༩ འོག་།
- 16 “རང་བཞིན་གྱིས་” དེ་ཉིད།
- 17 འདི་ཅི་ཀྱལ་པོ་འི་-སྤྱ་འབྲེལ་ འོག་༠ ༡༡༧ །
- 18 མཚན་-འབྲེལ་དཔེ་ཀུན་ལ་མཐུན་པར་ “རིགས་པ་འབའ་ཞིག” ཅེས་པ་
 འདུག ། དཔེ་འགར་ཡི་གེ་ཡང་མི་གསལ་མེད་, མཁན་པོ་གཞན་པན་སྤྱོད་
 བའི་མཚན་འབྲེལ་དུ་“འགའ་ཞིག” ཅེས་པ་འདུག་པས་, དག་པར་སྤྱོད་༥
 གཞན་མཚན་ འོག་༠ ༢་ མ)འདི་རྒྱ་བའི་དགོངས་པར་སྤྱོད་༥
- 19 (ཀ) སོ་སོ་འི་དངོས་པོ་ཐམས་ཅད་ལ། ལྷ་ཞེས་འོག་༠ ༡ ཉི་ཙ་ འོག་
 ༢༧ བོང་། ཁ) སོ་སོ་དངོས་པོ་ཐམས་ཅད་ལ། མྱེ་ཙ་འོག་༠ ༢༠ །
- 20 གང་ཕྱིར་དངོས་ནམས་ཐམས་ཅད་ཀྱི༥ རང་བཞིན་རྒྱ་རྒྱུན་ཚོགས་པའས།
 སོ་སོ་འི་དངོས་པོ་ཐམས་ཅད་ལ། ཡོད་མིན་དེ་ཕྱིར་སྤྱོད་པ་ཡིན།
 ལྷ་ཙ་ འོག་༠ ༢༡ །
- 21 རང་བཞིན་རྒྱུ་རྒྱུ་རྒྱུ་ནམས་སམ། མྱེ་འབྲེལ་ ༡༡༠ །
- 22 ཐམས་ཅད་ལ་བྱང་སྤེ། མྱེ་འབྲེལ་ འོག་༠ དེ་ཉིད།
- 23 ཡོད་ཕྱིར་ཡོད་པ་སྤེ་མིན་དེ།-ལྷ་ཞེས་འོག་༠ ༡ མྱེ་ཙ་འོག་༠ ༢༠ ། ལྷ་ཙ་
 འོག་༠ ༢༡ ། ཉི་ཙ་འོག་༠ ༢༧ བོང་།
- 24 མེད་པས་-ཉི་ཙ་འོག་༠ ༢༧ བོང་།

25 མེད་བ་མེད་པའི་ཕྱིར་མ་ཡིན།། སྡེ་ཙ་ཤོག། ༢༥

26, 27 སྐྱེ་བ་མེད་ཕྱིར་གནས་འགག་མེད།། སྡེ་ཙ་ཤོག། ༢༥ ། སྡེ་ཙ་ཤོག། ༡༡༧

28 ཡོད་པ་ཡང་མ་ཡིན་, མེད་པ་ཡང་མ་ཡིན་པ་ག་ལ་སྐྱེ། སྡེ་འགྲེལ་
ཤོག། ༡༡༠།

29 (ཀ) སྐྱེས་པ་བསྐྱེད་པར་བྱ་བ་མིན། །མ་སྐྱེས་པ་ཡང་བསྐྱེད་བྱ་མིན།།

སྐྱེ་བའི་ཆོ་ཡང་བསྐྱེད་བྱ་མིན། སྐྱེ་དང་མ་སྐྱེ་བ་ཡི་ཕྱིར། །སྡེ་འགྲེལ་ཤོག། ༡༡༠

(ཁ) ཀྱང་བ་ཕྱི་མ་གཉིས་ “སྐྱེས་པ་དང་ནི་མ་སྐྱེས་པའི། སྐྱེ་བཞིན་པ་ཡང་
བསྐྱེད་བྱ་མིན།” །སྡེ་ཞེལ་ཙ་ཤོག། ༡།

30 སྐྱེད་པ་དང་ནི་མ་སྐྱེས་པའི། སྐྱེ་བཞིན་པ་ཡང་བསྐྱེད་བྱ་མིན།
ཉི་ཙ་ ༢༧ གོང་འོག །

31 མཆན་:— “ཅའི་ཕྱིར་ཞེ་ན།” ཞེས་པའི་ཆོག་འདི་དག་པལ་ཆེར་བརྒྱང་
ཙ་བའི་རྒྱ་དཔེ་ལ་ཡོད་པའི་ཆོག་ཡིན་པར་མི་རྣམས་། འདི་རིགས་འགའ་
ཞིག་ལོ་རྒྱུ་བའི་ཆོག་ཡིན་པར་མངོན་ནོ།།

32 མེ་སྐྱེས་པ་ཡང་, སྡེ་འགྲེལ་ ཤོག། ༡༡༠ །

33 གོང་བཞིན།

34 སྐྱེ་བའི་ཆོ་ཡང་, སྡེ་འགྲེལ་ཤོག། ༡༡༧ ། ཉི་འགྲེལ་ ཤོག། ༡༡༧ ། གོང་།

35 སྐྱེ་བའི་ཆོ་དེ་ སྡེ་འགྲེལ་ཤོག། ༡༡༤ ། ཉི་འགྲེལ་ དེ་ཉིད།

36 སྐྱེ་བའི་ཆོ་ཡང་, སྡེ་འགྲེལ་ཤོག། ༡༡༠ །

37 དའི་ཕྱིར་སྐྱེ་བའི་ཆོ་ཡང་བསྐྱེད་པར་བྱ་བ་ སྡེ་འགྲེལ་ཤོག། ༡༡༧
ཉི་འགྲེལ་ དེ་ཉིད།

- 33 འབྲས་ཡོད་འབྲས་དང་ལྷན་བཞི་གྱུ། ཡིག་རྫིང་ཤོག་། ༩། སྤེའབྲེལ་
ཤོག་། ༡༡༡། སྤེའབྲེལ་ཤོག་། ༩༡༡
- 39 (ཀ) རྒྱ་མིན་དང་མཚུངས་མེད་དེ་ལའང་། མེད་དེ་ལ་ཡང་རྒྱ་མིན་
མཚུངས། །རྩ་ཞེས་ཅ་ཤོག་། ༡།
(ཁ) རྒྱ་མིན་དང་མཚུངས་མེད་པ་ཡང་། སྤེའབྲེལ་ཤོག་། ༩༡༡
- 40 (ཀ) ཡོད་མིན་མེད་པ་འང་ཡིན་ན་འགལ། །རྩ་ཞེས་ཅ་ཤོག་། ༡༡༡།
(ཁ) ཡོད་མིན་མེད་པ་འང་མིན་ན་འགལ། སྤེའབྲེལ་ཤོག་། ༩༡༡།
ཀྱང་པ་དང་པོ་གསུམ་ཉི་ཅུ་འབྲས་བྱ་ཡོད་པར་འབྲེལ་གྱུ། རྒྱ་མིན་
དང་མཚུངས་མེད་པ་འང་། མེད་དེ་ལའང་རྒྱ་མིན་མཚུངས། ཉི་ཅུ་
ཤོག་། ༩༡༡། ཤོག་། སྤེའབྲེལ་ཤོག་། ༩༡༡།
- 41 རྣམས་སྤྱའང་རང་ ཞེས་བཞི་ 'འང' སྤེའབྲེལ་གཞན་ལ་མེད། ཡིག་
རྫིང་ཁོ་ན་ལ་འདུག །
- 42 འབྲས་བྱ་དེ་མེད་ན་, སྤེའབྲེལ་ཤོག་། ༡༡༡།
- 43, 44 རྒྱ་མིན་པ་, སྤེའབྲེལ་ཤོག་། ༡༡༡། ཡིག་རྫིང་ཤོག་། ༩༡༡། སྤེའབྲེལ་ཤོག་། ༡༡༡།
- 45 ཁོ་ན་, སྤེའབྲེལ་ཤོག་། ༡༡༡།
- 46 རི་ལྷ་ཞེས་ན་? སྤེའབྲེལ་ཤོག་། ༡༡༡།
- 47 བསྟགས་ན་ནི་, སྤེའབྲེལ་ཤོག་། ༩༡༡།
- 48 བྱི་མར་བརྟགས་ན་, སྤེའབྲེལ་ཤོག་། ༩༡༡།
- 49 གཅིག་ཅན་, སྤེའབྲེལ་ཤོག་། ༡༡༡།
- 50 གསུམ་ཆར་, ཡིག་རྫིང་ ཤོག་། ༩།

- 51 གསུམ་ཆར་དུ—སྒྲ་འབྲེལ་ཤོག་༠ ༡༡༤། ཉི་འབྲེལ་ཤོག་༠ ༡༢༡།
- 52 མཆན་—དེ་ལྟར་ཞེས་སོགས་ཀྱི་དོན་, ས་བོན་ལྷ་སྤུས་གསུམ་ཅར་དུ་,
སྤུ་གུ་པ་སོགས་པའི་རྒྱུར་མི་འཐད་, ཅེས་པའོ།
- 53 འཐད་པའི་—སྒྲ་འབྲེལ་ཤོག་༠ ༡༡༤ །
- 54 བྱང་བ་ ཡིག་རྩིང་, ཤོག་༠ ༣།
- 55 “དེ་ཕྱིར་བདེན་ནས་དངོས་བོ་རྣམས། །འབྱུང་བ་མཚན་མ་མེད་པ་ཡིན།”
སྒྲ་འབྲེལ་ཤོག་༠ ༡༡༡། སྒྲ་འབྲེལ་ཤོག་༠ ༡༡༤། སྒྲ་ཙ་ ཤོག་༠ ༢༧ །
- 56 དངོས་བོ་རྣམས་བདེན་ནས། སྒྲ་འབྲེལ་ཤོག་༠ ༡༡༤།
- 57, 58 བཟུན་ཞིང་,—ཡིག་རྩིང་ ཤོག་༠ ༣། ཉི་འབྲེལ་ཤོག་༠ ༡༢༤ བོང་།
- 59 སློབ་དབོན་རྣམས་ཀྱིས་སེམས་གཅིག་—ཉི་འབྲེལ་ཤོག་༠ ༡༢༤། བོང་།
- 60 བཟུན་དེ་—ཡིག་རྩིང་ཤོག་༠ ༣།
- 61 མི་འཐད་ཅིང་། ལྷ་ཞེལ་ཙ་ཤོག་༠ ༣།
- 62, 63 འཐད་མ་ཡིན། སྒྲ་ཙ་ཤོག་༠ ༢༧། ལྷ་ཞེལ་ཙ་དེ་ཉིད། སྒྲ་ཙ་ཤོག་༠ ༢༧།
- 64 དེ་མ་སྤྱེས། སྒྲ་འབྲེལ་ཤོག་༠ ༡༡༤།
- 65 གཉིས་ལྷར་—སྒྲ་འབྲེལ་ཤོག་༠ ༡༡༡། ཡིག་རྩིང་ཤོག་༠ ༣། ཉི་འབྲེལ་
ཤོག་༠ ༡༢༤ བོང་།
- 66 འདི་རྒྱ་དབེལ་ཞེ་ཡོད་བསམ་པ་འདུག
- 67 དངགས་ལ། ཡིག་རྩིང་ཤོག་༠ ༣།
- 68 བདགས་ལ། ཉི་འབྲེལ་ཤོག་༠ ༡༢༤ བོང་།
- 69 དེའི་ཡང་རྒྱུན་—སྒྲ་འབྲེལ་ཤོག་༠ ༡༢༤ །

70 ཕྱིན་ཅི་ཡོག་ཡིན་པས་སྟོན་དེ། ལྷ་འབྲེལ་ལ་ དེ་ཉིད།

71 མི་དྲག་དྲག་མིན་བདག་མེད་པ།

བདག་མིན་མི་གཙང་གཙང་མ་ཡིན།

སྟུག་བཟུལ་བདེ་བ་མ་ཡིན་དེ།

དེ་ཕྱིར་ཕྱིན་ཅི་ཡོག་ནམས་མེད། ལྷ་འབྲེལ་ཤོག་༡༡༡། ལྷ་འབྲེལ་

ཤོག་༡༡༢། ཉི་འབྲེལ་ཤོག་༡༡༤ གོང་། ཡིག་རྫིང་ཤོག་༡༡༥།

72 སྟོར་རོ། ལྷ་འབྲེལ་ཤོག་༡༡༦།

73 (༣) དེ་མེད་ཕྱིན་—སྟེ་ཙ་ཤོག་༡༡༧། ཉི་ཙ་ཤོག་༡༡༨།

(བ) དེ་མིན་ཕྱིན་ཅི་ཡོག་བཞི་ལས།

སྟེ་ས་པར་མ་རིག་མི་སྟོན་ལ།

དེ་མེད་འདུ་བྱེད་མི་འབྱུང་ཞིང་།

ལྷག་མ་ནམས་ཀྱང་དེ་བཞིན་ནོ། ལྷ་ཞོལ་ཙ་ཤོག་༡༡༩། ལྷ་ཙ་ཤོག་༡༢༠།

74 མི་འབྱུང་ཞིང་། ལྷ་ཙ་ཤོག་༡༢༡། ལྷ་ཞོལ་ཙ་ཤོག་༡༢༢། ཉི་ཙ་

ཤོག་༡༢༣། ཤོག་༡༢༤།

75 གི་ནི་མ་གྲུབ་མིན། ལྷ་འབྲེལ་ཤོག་༡༢༥། ཉི་འབྲེལ་ཤོག་༡༢༦། གོང་།

76 (༣) བན་ཚུན་གྱི་ཕྱིར་དེ་གཉིས་ནི། རང་བཞིན་གྱིས་ནི་མ་གྲུབ་ཡིན།

ལྷ་ཙ་ཤོག་༡༢༧། ཉི་ཙ་ཤོག་༡༢༨། ཤོག་༡༢༩།

(ཎ) ལྷ་ཞོལ་ཙ་བར་འདི་ལ་རྒྱུ་བྱུང་གྱེ— “མ་རིག་འདུ་བྱེད་

མེད་མི་འབྱུང་། དེ་མེད་འདུ་བྱེད་མི་འབྱུང་ཞིང་། ལྷག་མ་ནམས་ཀྱང་དེ་

བཞིན་ནོ། མ་རིག་འདུ་བྱེད་མེད་མི་འབྱུང་། དེ་མེད་འདུ་བྱེད་མི་འབྱུང་།

ཞིང་། ཡན་ཚུན་རྒྱ་ཕྱིར་དེ་གཉིས་ནི། རང་བཞིན་གྱིས་ནི་བྱུང་མ་ཡིན།

ལྷ་ཞོལ་ཙ་ཤོག་༠ ༢༧ །

77 དེ་བཞིན་སྟེ་འགྲེལ་ཤོག་༠ ༡༡༡ །

78, 79 མ་དག་གས་

80 དེ་ལྟ་བུས་ན་ཡ་ལོ་བོ། མ་བྱུང་རྒྱུན་གཞན་སྟེད་པ་མིན། སྟེ་འགྲེལ་དེ་ཉིད།

81 དེ་གཉིས་ནི་—སྟེ་འགྲེལ་ཤོག་༠ ༡༡༤ །

82 ཡ་བྱུང་མ་ཡིན་བྱུང་པ་མིན། སྟེ་འགྲེལ་ཤོག་༠ ༡༡༢ ། སྟེ་འགྲེལ་ཤོག་༠ ༡༡༤ །

83 གཉིས་ནི་ཡན་—སྟེ་འགྲེལ་ཤོག་༠ ༡༡༤ །

84 ཡན་ཚུན་མེད་པར་ཡང་མེད་ལ། སྟེ་འགྲེལ་དེ་ཉིད།

85 བྱུང་བ་—ཤེད་རྒྱུད་ཤོག་༠ ༢ །

86 (༡) རི་ལྟར་སྤྱི་ལས་ཡུལ་བརྟེན་བཞི།

བརྟེན་སྤྱུག་དེ་ཡི་ཡུལ་མེད་པ།

དེ་བཞིན་གང་ཞིག་ལ་བརྟེན་ནས།

གང་ཞིག་རྟེན་འབྱུང་དང་འདི་མེད། ལྷ་ཞོལ་ཙ་ཤོག་༠ ༢༡ སྟེ་ཙ་

ཤོག་༠ ༡༡༤ ཉི་ཙ་ཤོག་༠ ༢༧ །

(ཁ) ཀློང་པ་ཕྱི་མ་གསུམ་—

བརྟེན་སྤྱུག་དང་དེའི་ཡུལ་མེད་པ།

དེ་བཞིན་གང་ཞིག་ལ་བརྟེན་ནས།

གང་ཞིག་བརྟེན་འབྱུང་དང་འདི་མེད། སྟེ་ཙ་ཤོག་༠ ༢༢ །

87 འགྲེལ་བའང་མེད། ཡིག་རྒྱུད་ཤོག་༠ ༢ ། སྟེ་འགྲེལ་ཤོག་༠ ༡༡༤ །

88 མེད་ན་དམན་མཉམ་ཁྱད་འཕགས་དང་། ལྷ་ཚོགས་ཉིད་ནི་མི་འགྲུབ་ཅིང་།

རྒྱལ་ས་ཀྱང་ནི་མངོན་འགྲུབ་མེན། ལྷ་ཞོལ་ཙ་ཤོག་༥ ༣། ལྷ་ཙ་ཤོག་༥ ༣༥།

89 ཉི་ཙ་ར་ཀང་བ་བཞི་ག་ལྷ་ཞོལ་ཙ་བ་དང་མཚུངས།

90 དེ་ནི་—སྤྱ་འགྲུལ་ཤོག་༥ ༡༡༦། ཉི་འགྲུལ་ཤོག་༥ ༡༢༤། འོག་།

91 (ཀ) རང་བཞིན་གྲུབ་ན་དེན་འགྲུང་གི་དངོས་པོ་མེད་འགྲུར་མ་བདེན་ན།

རང་བཞིན་མེད་པར་ག་ལ་འགྲུར། དངོས་པོ་ཡོད་ན་དངོས་མེད་ཀྱང་།

ལྷ་ཞོལ་ཙ་ཤོག་༥ ༣། ལྷ་ཙ་ཤོག་༥ ༣༥།

(ཁ) ཀང་བ་ཐ་མ་དངོས་པོ་ཡོད་དང་དངོས་མེད་ཀྱང་། ལྷ་ཙ་

ཤོག་༥ ༣༥། ཉི་ཙ་ཤོག་༥ ༣༧།

92 མེད་པར་ཡང་མི་འགྲུར་རོ། ལྷ་འགྲུལ་ཤོག་༥ ༡༡༣།

93 “དངོས་པོ་དང་” ཞེས་བ་ལྷ་འགྲུལ་དུ་མེད། ལྷ་འགྲུལ་ཤོག་༥ ༡༡༣།

94 (ཀ) བདེན་མེད་བ་—སྤྱ་འགྲུལ་ཤོག་༥ ༡༡༦།

(ཁ) ཞེས་བྱ་བའི་ཆོ་དང་བདེན་མེད་བ་—ཉི་འགྲུལ་ཤོག་༥ ༡༢༤། འོག་།

95 གཞན་དངོས་འཇོག་པར་—ཉི་འགྲུལ་ཤོག་༥ ༡༡༤། འོག་།

96 ལྷ་འགྲུལ་དུ་ “དེ་ཕྱིར་གཞན་དངོས་དངོས་མེད་དང་།” ཞེས་བ་མེད་།

ལྷ་འགྲུལ་ཤོག་༥ ༡༡༦།

97 (ཀ) མེད་ལ་རང་དངོས་གཞན་དངོས་སམ། །

དངོས་མེད་འགྲུར་བ་ག་ལ་ཞིག་།

དེས་ན་རང་དངོས་གཞན་དངོས་དང་། །

དངོས་མེད་ཕྱིན་ཅི་ཡོག་པ་ཡིན། །

ལྷ་ཞེས་ཙ་ཤོག་༡༩། ལྷ་ཙ་ཤོག་༢༠། ཉི་ཙ་ཤོག་༢༡ འོག་།

(ཁ) ཀང་བ་གསུམ་བ་སྡེ་ཙ་ “དེ་ན་རང་དངོས་” ཞེས་བྱང་། ལྷ་ཙ་
ཤོག་༢༠།

95 “རང་གི་དངོས་པོ་དང་།” ཞེས་བ་མེད། ལྷ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༡༦ །

99 (༡) དངོས་པོ་རང་གི་—ལྷ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༡༦།

(ཁ) དངོས་པོ་དང་རང་གི་དངོས་པོ་—ལྷ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༡༢ །

100 དེ་ཕྱིར་གཞན་གྱི་དངོས་པོ་དང་། །དངོས་པོ་མེད་པ་དང་། །དངོས་པོ་
རང་གི་དངོས་པོ་ནི་ལོག་པ་ཡིན་ནོ། །ཡིག་རྙིང་ཤོག་ ༧ །

ཉི་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༢༤ འོག་།

101 འགག་པ་མེད་ཅིང་སྒྲེ་མི་འབྱུང་། །ལྷ་ཞེས་ཙ་ཤོག་༩། ལྷ་ཙ་ཤོག་༢༠།

102 ‘ཀྱི་སྟོང་’—ཉི་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༢༤ འོག་།

103 རང་བཞིན་སྟོང་བ་—ལྷ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༡༦།

104 འདྲོད་ན་འདྲོད་—ཡིག་རྙིང་ཤོག་ ༧ ། ལྷ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༡༦།

ཉི་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༢༦ བོང་།

105 དངོས་དང་དངོས་མེད་ཅིག་ཅར་མིན།།

དངོས་མེད་མེད་ན་དངོས་པོ་མེད།།

དག་དྲུ་དངོས་པོ་འང་དངོས་མེད་འབྱུང་།།

དངོས་མེད་མེད་པར་དངོས་མི་སྤིད། །ལྷ་ཞེས་ཙ་ཤོག་༩། ལྷ་ཙ་
ཤོག་༢༠། ལྷ་ཙ་ཤོག་༢༠ ། ཉི་ཙ་ཤོག་༢༤ བོང་།

- 106 “གང་གི་ཕྱིར་” ཞེས་པ་སྒྲ་འབྲེལ་དང་ཉི་འབྲེལ་དུ་མེད། སྒྲ་འབྲེལ་
ཤོག་༠ ༡༡༦། ཉི་འབྲེལ་ཤོག་༠ ༡༢༤ བོང་།
- 107 འདིར་—“དངོས་པོ་མེད་པར་” ཞེས་དཔེ་ཀུན་ལ་མཐུན་ངར་འདུག་ཀྱང་
མ་དག་པར་མངོན་དེ། དོན་ནི་—“དངོས་པོ་མེད་པ་མེད་པར་” ཞེས་པ་
ཡིན་དེ། དངོས་མེད་མེད་ན་དངོས་པོ་ཡང་མི་འཐད་དེ། འཛིག་པ་མེད་ན་
འཛིག་པ་དེ་ཆོས་ཅན་མེད་དགོས་པ་བཞིན་ནོ།
- 108 མི་དག་པ་ནི་—སྒྲ་འབྲེལ་ཤོག་༠ ༡༡༦།
- 109 ‘ཆེ’ ཞེས་པ་སྒྲ་འབྲེལ་ལ་མེད། དེ་ཉིད་ཤོག་༠ ༡༡༣ །
- 110 འཛིག་པ་མེད་པ་—སྒྲ་འབྲེལ་ཤོག་༠ ༡༡༦།
- 111, 112 དག་དུ་དངོས་པོ་དང་དངོས་པོ་མེད་པ་ཁོ་ནར་འགྱུར་ངོ།
ཡིག་རྩིང་ཤོག་༠ ༥ ། སྒྲ་འབྲེལ་ཤོག་༠ ༡༣༠ །
- 113 དངོས་མེད་མེད། སྒྲ་འབྲེལ་ཤོག་༠ ༡༡༣ ། ཡིག་རྩིང་ཤོག་༠ ༥ །
སྒྲ་འབྲེལ་ཤོག་༠ ༡༣༠ །
- 114 (ཀ) རང་ལས་མེན་ཞིང་གཞན་ལས་མིན།
དེ་ལྟ་བུས་ན་དེ་མེད་ན། །
དངོས་པོ་མེད་ཅིང་དངོས་མེད་མེད། ལྟ་ཞེས་ཅ་ཤོག་༠ ༣ །
སྒྲ་ཅ་ཤོག་༠ ༣༠། ཉི་ཅ་ཤོག་༠ ༣༤ བོང་།
- (ཁ) ཀྱང་པ་ཐ་མ་—“དངོས་པོ་མེད་ཅིང་དངོས་མེད་ན།” སྒྲ་ཅ་ཤོག་༠ ༣༧།
- 115 “མ་སྐྱེས་པ་ཡིན་ན་”—ཡིག་རྩིང་ཤོག་༠ ༥ །
- 116 དེ་གཉིས་མིན། སྒྲ་འབྲེལ་ཤོག་༠ ༡༣༠། ཉི་འབྲེལ་ཤོག་༠ ༡༣༦ འོག་།

- 117 (ཀ) ཡོད་པ་ཉིད་ན་དྲི་ཉིད་དང་།
 མེད་ན་ངེས་པར་ཆད་ཉིད་ཡིན།
 དངོས་པོ་ཡོད་ན་དེ་གཉིས་འགྱུར།
 དེ་ཕྱིར་དངོས་པོ་ཁས་སྒྲངས་མིན། ལྷ་ཞེས་ཙ་ཤོག། དེ་ཉིད།
 ཉི་ཙ་ཤོག། ༢༤ བོང་། ལྷ་ཙ་ཤོག། ༢༥ །
 (ཁ) རྩེ་འབྲེལ་དང་, ཡིག་རྩིང་གཉིས་ཀར་ཀླང་པ་གསུམ་པ་དེ་ལ—
 “དངོས་པོ་ཡོད་ན་དེ་གཉིས་མིན།” ཞེས་བྱུང་།—རྩེ་འབྲེལ་ཤོག། ༡༡༣
 ཡིག་རྩིང་ཤོག། ༥ །
- 118 འགྱུར་བས་—རྩེ་འབྲེལ་ཤོག། ༡༡༣ །
- 119 འདི་གཉིས་ཀར་—ལྷ་འབྲེལ་ཤོག། ༡༢༠ །
- 120 མི་གྲུབ། ཉི་ཙ་ཤོག། ༢༤ བོང་།
- 121 ལྷ་ཕྱི་ཕྱིར་ན་འདྲི་མེད་དེ།
 ལྷ་ཕྱི་ན་ནི་དངོས་པོ་འབག།
 སྒྲར་བཞིན་འདི་ཡང་མ་གྲུབ་ཅིང་།
 ལྷ་ཆད་པར་ཡང་ཐལ་བར་འགྱུར།—ལྷ་ཙ་ཤོག། ༢༥ །
 ཉི་ཙ་ཤོག། ༢༤ བོང་། རྩེ་ཙ་ཤོག། ༢༥ ། ལྷ་ཞེས་ཙ་ཤོག། ༢༥ །
- 122 རྩེ་འཛིག་བསྟན་ཕྱིར་སངས་རྒྱས་ཀྱི། ཉི་ཙ་ཤོག། ༢༤ བོང་།
- 123,124 རྩེ་འཛིག་དེན་ཕྱིར་བྱང་འདས་ཀྱི།
 ལས་བསྟན་མ་ཡིན་ལྟོང་ཉིད་ཕྱིར།
 འདི་དག་པན་ཚུན་ལྟོག་པ་རུ།

མཐོང་བ་ཕྱིན་ཅི་ལོག་ལས་ཡིན།-ལྷ་ཞོལ་ཙ་ཤོག། ༢༡ ཀང་བ་དང་བོ་
ལ་སྒྲ་ཙ་-“སྐྱེ་འཇིག་བསྐྱེད་ཕྱིར་སངས་བྱུང་གྱི།” ཞེས་བྱུང་ལ།
ཕྱི་མ་གསུམ་ལྷ་ཞོལ་ཙ་བ་དང་འདྲ།

125 འཇིག་བ་འདི་གཉིས་-སྒྲ་འགྲེལ་ཤོག། ༡༢༠།

126 གལ་དེ་སྐྱེ་འགག་མེད་ཡིན་ན། །ཅི་ཞིག་འགགས་པས་བྱ་ངན་འདས།།
ཉི་ཙ་ཤོག། ༢༤ བོང་། ལྷ་ཞོལ་ཙ་ཤོག། ༢༡།

127 ཀང་བ་བཞི་པ་-“གང་ཞིག་འགག་ཕྱིར་བྱ་ངན་འདས།” སྒྲ་ཙ་
ཤོག། ༡༢༠། ཉི་འགྲེལ་ཤོག། ༡༢༠ བོང་།

128 འགག་པའི་ཕྱིར་-ཡིག་རྫིང་ཤོག། ༦། ལྷ་འགྲེལ་ཤོག། ༡༡༢།
ཉི་འགྲེལ་ཤོག། ༡༢༠ བོང་།

129 (ཀ) རང་བཞིན་གྱིས་ནི་སྐྱེ་མེད་ཅིང་།།

འགག་མེད་གང་དེ་ཐར་མིན་ནས།-ལྷ་ཞོལ་ཙ་ཤོག། ༢༡ ལྷ་ཙ་
ཤོག། ༢༡། ཉི་ཙ་ཤོག། ༢༤ བོང་། སྒྲ་ཙ་ཤོག། ༢༡།

(ཁ) ཀང་བ་ཐ་མ་-“འགག་མེད་དེ་ཐར་མ་ཡིན་ནས། ཉི་འགྲེལ་
ཤོག། ༡༢༠ བོང་།

130 སྐྱེ་བ་མེད་པ་ཡང་འགག་པ་མེད་པ་དེ་-ལྷ་འགྲེལ་ཤོག། ༡༡༢།

131 གལ་དེ་ཅིག་ཤོས་རྩར་རྟག་པ། ལྷ་འགྲེལ་ དེ་ཉིད།

132 (ཀ) གལ་དེ་འགག་པས་བྱ་ངན་འདས་ཆད།།

གལ་དེ་ཅིག་ཤོས་རྩར་ན་བརྟག།

དེ་ཕྱིར་དངོས་དང་དངོས་མེད་དག།

མུ་ངན་འདས་པར་བྱང་མ་ཡིན། ལྷ་ཞོལ་ཙ་ཤོག། ༢།

(ཁ) ཀང་པ་དང་པོ་“གཡ་དེ་འགག་ལས་མུ་ངན་ཆད།”

སྡེ་ཙ་ཤོག། ༢༣།

133 ‘ནི’ ཞེས་བ་སྡེ་འགྲེལ་ལ་མེད། དེ་ཉིད་ཤོག། ༡༡༩།

134 གཡ་དེ་འགག་པར་འགའ་གནས་ན། སྡེ་ཙ་ཤོག། ༢༣། ལྷ་ཞོལ་
ཙ་ཤོག། ༢།

135, 136 གཡ་དེ་འགག་བ་འགའ་གནས་ན།

དངོས་པོ་ལས་གཞན་དེ་ཡོད་འགྱུར། ལྷ་ཙ་ཤོག། ༢༣། ཉི་ཙ་
ཤོག། ༢༤ གོང་།

137 ‘པར’—ཞེས་བ་ཡིག་རྩིང་དུ་མེད། དེ་ཉིད་ཤོག། ༩།

138 (ཀ) དངོས་པོ་མེད་ཕྱིར་འདི་མེད་ལ། ཉི་ཙ་ཤོག། ༢༤ གོང་།

(ཁ) དངོས་པོ་མེད་ཕྱིར་དེ་ལས་མེད། སྡེ་ཙ་ཤོག། ༢༣།

(ག) དངོས་པོ་མེད་ཕྱིར་དེ་ལ་མེད། ལྷ་ཞོལ་ཙ་ཤོག། ༢།

(ང) དངོས་པོ་མེད་ཕྱིར་འདི་མེད་ལ།

དངོས་པོ་མེད་ཕྱིར་དེ་ལས་མེད། ལྷ་ཙ་ཤོག། ༢༣།

139 འདིར་—“དངོས་པོ་མེད་པ་དང་དངོས་མེད་མེད་པ་གཉིས་ཀྱི་ལྷ་
ཡང་” —ཞེས་གོ་དགོས།

140 དངོས་པོ་མེད་པར་ཡང་, ཞེས་བ་ནས་, འོག་དུ་“འདིར་བཤད་པ་
ཞེས་བའི་པར་སྡེ་འགྲེལ་དུ་མེད། དེ་ཉིད་ཤོག། ༡༡༩།

- 141 (ཀ) ཕན་ཚུན་ཡང་.....॥ ལྷ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༣ །
 (ཁ) མཚན་གཞི་ལས་མཚན་མཚན་ཉིད་ལས॥
 མཚན་གཞི་གྲུབ་པས་རང་མ་གྲུབ॥
 ཕན་ཚུན་ལས་ཀྱང་མ་གྲུབ་མེ॥ ལྷ་ཞེལ་ཙ་ཤོག་ ༢ ། སྡེ་ཙ་ཤོག་ ༣༣ །
 ཉི་ཙ་ཤོག་ ༣༤ བོང་།
- 142 ཕན་ཚུན་ཡང་—ལྷ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༣ །
- 143 ཐུད་པ་ཡིན་ནོ॥ ཉི་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༣༠ འོག །
- 144 (ཀ) ཚོར་དང་ཚོར་བ་པོ་སྟེར་དང་॥ སྡེ་ཙ་ཤོག་ ༣༣ ། ལྷ་ཙ་ཤོག་ ༣༣ །
 (ཁ) ཚོར་དང་ཚོར་བ་པོ་སོགས་དང་॥ ལྷ་ཙ་ཤོག་ ༣ ། ཉི་ཙ་
 ཤོག་ ༣༤ འོག །
- 145 སྟོགས་ཅི་ཡང་—སྡེ་ཙ་ ༣༣ །
- 146 དུས་གསུམ་པ་དུ་མར་སེམས་ཏེ། ལྷ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༡༠ །
- 147 འདིར་བཤད་པ་—ལྷ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༣༡ །
- 148 གནས་མེད་ཕན་ཚུན་ལས་གྲུབ་དང་॥ འཁོལ་ཕྱིར་རང་ཉིད་མ་གྲུབ་ཕྱིར॥
 ལྷ་ཞེལ་ཙ་ཤོག་ ༢ །
- 149 ཡིན་པ་ཡིན་པར་—སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༡༠ །
- 150 བརྒྱུད་པར་—ཡིག་རྒྱུད་ཤོག་ ༡ །
- 151 བདུག་པ་—སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༡༠ །
- 152 ད་ལྟར་བ་—ཉི་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༣༡ བོང་།
- 153 བདུག་པ་ཡིན་པ་—སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༡༠ །

154 རོ་བོར་མེད་དོ། ཡིག་རྩིང་ཤོག་ཀྱང་། ལྷ་འགྲེལ་ཤོག་ཀྱང་། ༡༢༡ །

ཉི་འགྲེལ་ ༡༢༡ བོང་།

155 (ཀ) དེ་ཕྱིར་འདུས་བྱས་ཉིད་མ་ཡིན།

འདུས་མ་བྱས་ལའང་ཅུང་ཟད་མེད། སྡེ་ཙ་ཤོག་ཀྱང་། ༡༢༢ །

སྡེ་ཙ་ཤོག་ཀྱང་། ༡༢༢ ། ཉི་ཙ་ཤོག་ཀྱང་། ༡༢༢ འོག་།

(ཁ) ཀྱང་པ་ཐ་མ་འདུས་མ་བྱས་བའང་ཅུང་ཟད་མེད། ལྷ་ཙ་ཤོག་ཀྱང་། ༡༢༢ །

156 དེ་མེད་པ་དེའི་ཕྱིར། ཡིག་རྩིང་ཤོག་ཀྱང་། ལྷ་འགྲེལ་ཤོག་ཀྱང་། ༡༢༣ །

ཉི་འགྲེལ་ཤོག་ཀྱང་། ༡༢༣ བོང་།

157 འདུས་མ་བྱས་ཅི་ཡང་—སྡེ་འགྲེལ་ཤོག་ཀྱང་། ༡༢༣ །

158 རྩིན་ཀྱང་—སྡེ་འགྲེལ་ཤོག་ཀྱང་། ༡༢༤ །

159 མ་ཞིག་མི་འཇིག་བའང་མིན། ཡིག་རྩིང་ཤོག་ཀྱང་། ༡༢༤ །

160 མི་གནས་བ་ལའང་གནས་མ་ཡིན། ལྷ་ཙ་ཤོག་ཀྱང་། ༡༢༤ ། ཉི་ཙ་ཤོག་ཀྱང་། ༡༢༤ འོག་།

161 གནས་བའང་—སྡེ་འགྲེལ་ཤོག་ཀྱང་། ༡༢༤ །

162 མི་འཇིག་པ་དེའི་འདུས་བྱས་མེད་དོ། སྡེ་འགྲེལ་ཤོག་ཀྱང་། ༡༢༤ །

163 མཚན་འདིར་སྡེ་ཚགས་ཐམས་ཅད་འདུས། ལྷ་ཞོལ་ཙ་ཤོག་ཀྱང་། ༡༢༤ །

སྡེ་ཙ་ཤོག་ཀྱང་། ༡༢༤ ། ཉི་ཙ་ཤོག་ཀྱང་། ༡༢༤ འོག་།

མཚན་—‘མཚན’ ཞེས་པ་མཚན་གཞི་ལ་དགོངས་པར་སྤང་མོད། ‘མཚམས་

འདིར་ཞེས་པ་དག་པར་སྤང་སྟེ། གོང་སྒྲོས་མཚམས་དེ་ལྟ་ལྟ་བོ་འདིར་

ཞེས་པ་ཡིན་ལ། དེ་ཉིད་དཔེ་ལྟ་ཙམ་ལས་མཐུན་པར་བྱུང་ངོ་།

164 ཇེས་པ་གཟུང་བ་—ཡིག་རྩིང་ཤོག་ཀྱང་། ལྷ་འགྲེལ་ཤོག་ཀྱང་། ༡༢༥ །

- 165 ཐམས་ཅད་‘བྱབ་ཅིས་—ཡིག་རྩིང་ཤོག་ ༤ ।
- 166 གཉིས་ཀྱི་ནམ་པ་—སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་ ༥་ཉིད།
- 167 བསྐྱས་པར་—སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༢༩ ।
- 168 བཅོམ་ལྷན་སྦྲེལ་ལས་གནས་དང་།
 ལས་བདག་ལས་ཀྱི་འབྲས་བྱ་དང་།
 སེམས་ཅན་རང་གི་ལས་དང་ནི།
 ལས་ནམས་ཅུད་མི་ཟ་བར་གསུངས། ལྷ་ཞེས་ཅ་ཤོག་ ༢ ।
 ཉི་ཅ་ཤོག་ ༢༤ । ལྷ་ཅ་ཤོག་ ༢༥ ।
- 169 བྱ་བ་མ་ཡིན་ནོ། ཉི་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༣༢ ཞོང་།
- 170 གསུངས་དེ། ཡིག་རྩིང་ཤོག་ ༤ । ལྷ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༢༩ ।
- 171 ལས་ནམས་རང་མཆིན་མེད་གསུངས་དེ།
 མ་སྦྱེས་གང་དེ་ཅུད་མི་ཟ།
 དེ་ལས་ཀྱང་ནི་བདག་འཛིན་སྦྱེ། ལྷ་ཞེས་ཅ་ཤོག་ ༢ ।
 ལྷ་ཅ་ཤོག་ ༢༥ ཉི་ཅ་ཤོག་ ༢༤ འོག ། སྡེ་ཅ་ཤོག་ ༢༥ ।
- 172 ‘དེ་ཞེས་པ་ཉི་འབྲེལ་དུ་མེད། དེ་ཉིད་ཤོག་ ༡༣༢ ཞོང་།
- 173 “གཞན་ཡང་དེ་བདག་འཛིན་ལས་སྦྱེས” —ཞེས་འོང་དགོས།
- 174 སྦྱེད་ལ་—སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༢༥ ।
- 175 དེ་ཡང་དག་པར་—སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༢༩ ।
- 176 འགྱུར་དེ།—ཡིག་རྩིང་ཤོག་ ༤ । ལྷ་འབྲེལ་ ༡༢༩ ।

177 ཚོག་ཀང་འདི་དང་། དེ་ཕྱིར་ལས་ཀྱང་—ཞེས་སོགས་ཀང་བ་གཉིས་ཀ་
 ཡིག་རྩིང་(ཤོག་༥) དང་། ལྷ་འབྲེལ་(ཤོག་ ༡༢༢) གཉིས་ཀར་གོང་གི་
 ‘གཡ་དེ་ལས་ནི’—ཞེས་པའི་ཀང་བ་གཉིས་དང་ལྷན་ཅིག་བཞེད་ནས་
 ཀང་བ་ཕྱི་མ་གཉིས་ཀྱི་འབྲེལ་པའི་སྐབས་སྤྱར་དེ་གཉིས་རེ་རེ་ནས་
 བསྐྱར་འདུག་ཀྱང་། ལྷ་འབྲེལ་དུ་དེ་ལྷར་མི་འདུག་ཅིང་། འདིར་ལྷ་
 འབྲེལ་ལྷར་བཞེད་དོ།

178 ཉི་ཅར་ཚོགས་བཅད་འདི་—

གཡ་དེ་ལས་ལ་རང་བཞིན་ཡོད།

དེ་བསྐྱེད་ལུས་ནི་དྲག་པར་འགྱུར།

ལས་ཀྱང་སྤྲུག་བསྐྱེད་ནམ་སྤྱོད་ཅན།

མི་འགྱུར་དེ་ཕྱིར་བདག་དུ་འགྱུར། ཉི་ཅ་ཤོག་༠ ༢༤ འོག་།

ཀང་བ་ཐ་མ་ལྷ་ཞེས་ཅ་བ་དང་མཚུངས།

179 གང་གི་ཕྱིར་མི་དྲག་པ་—ལྷ་འབྲེལ་ཤོག་༠ ༡༢༥ ། ཉི་འབྲེལ་

ཤོག་༠ ༡༢༣ གོང་།

180 ‘ལས་’ནི་ཞེས་པ་ནས་‘མེད་དོ’—ཞེས་པའི་བར་གྱི་འབྲེལ་ཚོག་འདི་

དག་། ལྷ་འབྲེལ་དང་ཉི་འབྲེལ་དུ་ཤོ་ལོ་ཀ་རྫོང་མཚམས་སུ་བཞེད་འདུག།

181 (༡) ལས་ནི་ཀྱི་སྤྱོད་ཡོད་མིན་ཞིང་།

ཀྱི་མིན་ལས་སྤྱོད་ཅང་ཟད་མེད།

འདྲ་བྱེད་ནམས་ནི་རྒྱ་མ་དང་།

དེ་ཟད་གོང་ཁྱེད་སྤྱོད་ཀྱི་མཚུངས། ལྷ་ཞེས་ཅ་ཤོག་༠ ༢ །

ཉི་ཅ་ཤོག་༥ ༣༤ འོག །

(ཁ) ལས་ནི་རྒྱན་སྤྱོད་ཅི་ཡང་མེད། རྒྱན་མཉམ་སྤྱོད་བཤང་ཡོད་མཉམ་དེ།

ཅིའི་ཕྱིར་ཞེན། འདྲ་བྱེད་ཞེས་སོང་ཡིག་རྩིང་ཤོག་༥ ༤ །

182 རང་བཞིན་གྱིས། ལྷ་འགྲེལ་ཤོག་༥ ༡༣༡ །

183 ཉོན་མོངས་འདྲ་བྱེད་ལས་བདག་ཉིད། ལྷ་ཞེལ་ཅ་ཤོག་༥ ༣ །

སྤེ་ཅ་ཤོག་༥ ༣༡ ། ལྷ་ཅ་ཤོག་༥ ༣༡ །

184 ཉོང་མོངས་བའི་རྒྱ་ལས་—ཉི་འགྲེལ་ཤོག་༥ ༡༣༡ གོང་།

185 རང་བཞིན་གྱི་སྤྱོད་—ལྷ་འགྲེལ་ཤོག་༥ ༡༣༡ །

186 དེ་ལྷན་ཡིན་ནོ། ཡིག་རྩིང་ཤོག་༥ ༦ །

187 (ཀ) ལས་མེད་ན་ནི་བྱེད་བོ་མེད། དེ་གཉིས་མེད་བས་འབྲས་བྱ་མེད།

དེ་མེད་ཉེ་བར་སྤྱོད་བོ་མེད། དེ་བས་དངོས་བོ་དཔེན་བ་ཡིན།

ཉི་ཅ་ཤོག་༥ ༣༤ འོག ། ལྷ་ཅ་ཤོག་༥ ༣༡ ། ལྷ་ཞེལ་ཅ་ཤོག་༥ ༣ །

(ཁ) དེ་མེད་ཉེ་བར་སྤྱོད་བ་མེད། སྤེ་ཅ་ཤོག་༥ ༣༡ །

188 རང་བཞིན་མེད་ན—ལྷ་འགྲེལ་ཤོག་༥ ༡༣༡ ། ཉི་འགྲེལ་ཤོག་༥ ༡༣༡ འོག །

189 ལས་དང་—ལྷ་འགྲེལ་ཤོག་༥ ༡༣༡ །

190 ཡང་དག་མཐོང་—སྤེ་འགྲེལ་ཤོག་༥ ༡༡༩ ། ལྷ་འགྲེལ་ཤོག་༥ ༡༣༡

191 ལས་ནི་སྤྱོད་བར་ཡང་དག་བར། ཤེས་ན་དེ་ཉིད་མཐོང་བའི་ཕྱིར།

ལས་མི་འབྱུང་སྤེ་དེ་མེད་ན། ལས་ལས་འབྱུང་གང་མི་འབྱུང་ང་།

ལྷ་ཞེལ་ཅ་ཤོག་༥ ༣ ། ལྷ་ཅ་ཤོག་༥ ༣༡ ། ཉི་ཅ་ཤོག་༥ ༣༦ གོང་།

192 སྤྱོད་བར་—ཉི་འགྲེལ་ཤོག་༥ ༡༣༡ །

- 193 ལྷ་འབྲུལ་གྱིས་ནི་སྤྲུལ་བ་སྤྲུལ། སྤྲུལ་བ་དེ་ཡིས་སྤྲུལ་ཡང་ནི།
 སྤྲུལ་བ་གཞན་ཞིག་སྤྲུལ་གྱུར་བ། ལྷ་ཞེས་ཙ་ཤོག་༥ ༢ ། ལྷ་ཙ་ཤོག་༥ ༣༥ །
 ལྷ་ཙ་ཤོག་༥ ༣༥ ། ལྷ་ཙ་ཤོག་༥ ༣༥ བོང་།
- 194 ‘དེ་ལ’—ལྷ་ཙ་ཤོག་༥ ༣ ། ལྷ་ཙ་དེ་ཉིད། ལྷ་ཙ་དེ་ཉིད།
- 195 གཉིས་པོ་མེད་ཙམ་ཡོད་བ་ཡང་། ཁྱི་ཡང་རུང་སྟེ་རྟག་བ་ཙམ།
 ལྷ་ཙ་ཤོག་༥ ༣༥ བོང་། ལྷ་ཙ་དེ་ཉིད། ལྷ་ཙ་དེ་ཉིད། ལྷ་ཞེས་ཙ་དེ་ཉིད།
- 196 སྤྲུལ་དང་—ལྷ་ཞེས་ཙ་དེ་ཉིད། ལྷ་ཙ་དེ་ཉིད། ལྷ་ཙ་དེ་ཉིད། ལྷ་ཙ་དེ་ཉིད།
- 197 (ཀ) རང་བཞིན་གྱིས་ནི་གང་ཅུང་ཟད། ལྷ་ཙ་དེ་ཉིད། ལྷ་ཙ་དེ་ཉིད།
 (ཁ) རང་བཞིན་གྱིས་སྟོང་ཅུང་ཟད་གང་། ཡོད་བ་དེ་དག་རྟོད་བ་ཙམ།
 ལྷ་ཞེས་ཙ་དེ་ཉིད། ལྷ་ཙ་དེ་ཉིད། ལྷ་ཙ་དེ་ཉིད།
 (ག) ཡོད་བ་དེ་དག་རྟོད་བ་ཙམ། ལྷ་ཙ་དེ་ཉིད།
- 198 ‘གཞན’—ཞེས་བ་ཡིག་རྒྱུང་དང་སྤྲུལ་འབྲུལ་ལ་མེད།
- 199 ‘ཅི་ལྟར’—ཡིག་རྒྱུང་ཤོག་༥ ༢ ། ལྷ་འབྲུལ་ཤོག་༥ ༡༢༣ །
- 200 གཉི་ག་ཡང་—སྤྲུལ་འབྲུལ་དེ་ཉིད། ཡིག་རྒྱུང་དེ་ཉིད།
- 201 བསྐྱེད་པའི་—སྤྲུལ་འབྲུལ་དེ་ཉིད། ལྷ་འབྲུལ་ཤོག་༥ ༡༢༣ བོང་།
- 202 གལ་དེ་ལས་ཀྱི་རང་བཞིན་ཡོད། རྒྱང་འདས་བྱེད་པོ་ལས་ཀྱང་མེད།
 གལ་དེ་མེད་ན་ལས་བསྐྱེད་པའི། འདས་བྱེད་ཀྱི་དང་མི་སྤྲུལ་མེད།
 ལྷ་ཙ་ཤོག་༥ ༣༥ ། ལྷ་ཞེས་ཙ་ཤོག་༥ ༣ །
- 203 རྒྱང་ལས་འདས་བ་ཐོབ་བ་མེད་དོ། ལྷ་འབྲུལ་ཤོག་༥ ༡༢༣ ། ཡིག་
 རྒྱུང་ཤོག་༥ ༡༥ །

- 204 བྱེད་པ་པོ་ཡང་མེད་པར་ཡང་—སྡེ་འགྲེལ་ཤོག་༡༡༩ |
- 205 ‘ལས’—ཞེས་པ་སྡེ་འགྲེལ་ལ་མེད།
- 206 ལྷ་ག་དང་མི་...། སྡེ་འགྲེལ་ ༡༡༩ | དེ་ཉིད།
- 207 (༧) ཡོད་ཅེས་པ་དང་ཡོད་མེད་ཅེས། |ཡོད་དང་མེད་ཅེས་དེ་ཡང་ཡོད།།
 ལྷ་ཞོལ་ཙ་དེ་ཉིད་ ལྷ་ཙ་དེ་ཉིད། ཉི་ཙ་དེ་ཉིད།
 (ཁ) ཡོད་ཅེས་པ་ཡོད་མེད་ཅེས་ཡོད།། སྡེ་ཙ་ཤོག་༡༢༩ |
- 208, 209 སངས་རྒྱུས་ནམས་ཀྱི་དགོངས་པ་ཡིས།། སྡེ་ཙ་ཤོག་༡༢༩ |
 ཉི་ཙ་ཤོག་༡༣༠ གོང་། ལྷ་ཞོལ་ཙ་ཤོག་༡༣ |
- 210 ‘བདག་པར’—སྡེ་འགྲེལ་ཤོག་༡༡༩ |
- 211 ‘སངས་རྒྱུས་ཀྱིས’—སྡེ་འགྲེལ་དེ་ཉིད།
- 212 ཉོགས་པ་སྤྲ་བ་—སྡེ་འགྲེལ་ཤོག་༡༢༣ |ཉི་འགྲེལ་ཤོག་༡༢༣ གོང་།
- 213, 214 ‘ཕྱིར’ ཞེས་པ་སྡེ་འགྲེལ་དང་ཡིག་རྩིང་ལ་མེད། དེ་ཉིད་ཤོག་༡༠ |
 སྡེ་འགྲེལ་ཤོག་༡༢༣ |
- 215 གལ་ཏེ་གཞུགས་ནི་རང་འབྱུང་བཞིན།། སྡེ་ཙ་དེ་ཉིད།
- 216 ‘ཕྱིར་ནས’—ཡིག་རྩིང་ཤོག་༡༠ |
- 217 གལ་ཏེ་གཞུགས་ནི་འབྱུང་རང་བཞིན།།
 གཞུགས་དེ་འབྱུང་ལས་འབྱུང་མ་ཡིན།།
 རང་ལས་འབྱུང་མིན་མ་ཡིན་ནམ།། (‘རང་ལ’—ལྷ་ཞོལ་ཙ་ཤོག་༡༠)
- གཞན་ལས་ཀྱང་མིན་དེ་མེད་ཕྱིར།། སྡེ་ཙ་དེ་ཉིད། ཉི་ཙ་དེ་ཉིད།།
- 218 ‘འབྱུང་བ་ལས་འབྱུང་བ’—སྡེ་འགྲེལ་ཤོག་༡༡༩ |

- 219 དེ་ལྟ་ཡིན་ན་ནི་—ཡིག་རྒྱུང་ཤོག་༡༠ །
- 220 ཡང་དག་པར་ཡིན་པ་ལས་—སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་༡༡༦ །
- 221 དེ་བཞིན་ནོ། །སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་༡༡༦ །
- 222 ཚིག་ཀྱང་འདི་གཉིས་, སྡེ་སྡེའི་འབྲེལ་བ་གཉིས་སུ་ཙ་བའི་ཚུལ་དུ་
བཞག་འདུག་ཀྱང་, ཙ་བ་ལོགས་སུ་ཡོད་པའི་ས་དཔེ་ཀུན་ལ་མི་འདུག་
པས་, འདིར་ཡང་འདི་འབྲེལ་ཁྲོངས་སུ་བཞག་གོ །
- 223, 224, 225 ‘ཤེས་བྱ་བ’—སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༡༦ །
- 226 འབྲུང་བ་བཞི་པོ་དེ་དག་—ཡིག་རྒྱུང་ཤོག་ ༡༠ །སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༡༧ །
ཉི་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༡༨ འོག །
- 227 ‘ཀྱ’—ཞེས་པ་སྡེ་འབྲེལ་ལ་མེད་དེ་ཉིད་ཤོག་ ༡༡༧ །
- 228 དེ་ས་གྲུབ་པའི་མཚན་གཞི་—སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་ ༡༡༧ །
- 229 ‘མཚན་བཞི’—ཡིག་རྒྱུང་ཤོག་ ༡༠
- 230 གཅིག་པའང་བཞི་—སྡེ་འབྲེལ་དེ་ཉིད།
- 231 གཅིག་ལ་བཞི་ཉིད་ཡོད་མིན་ཅིང་།
བཞི་ལ་འང་གཅིག་ཉིད་ཡོད་མིན་པས། ལྟ་ཞོལ་ཙ་ཤོག་ ༧ །
སྡེ་ཙ་ཤོག་ ༡༦ ། སྡེ་ཙ་ཤོག་ ༡༧ ། ཉི་ཙ་ཤོག་ ༡༨ འོག །
- 232 (ཀ) ཀྱང་བ་ཕྱི་ས་གཉིས་—གཟུགས་ནི་འབྲུང་བ་ཆེན་པོ་བཞི།
རྒྱུ་བྱས་ནས་སྒྲུབ་ཇི་ལྟར་ཡོད། ལྟ་ཞོལ་ཙ་ཤོག་ ༧ །
སྡེ་ཙ་ཤོག་ ༡༧ ། ཉི་ཙ་ཤོག་ ༡༨ གོང་།
(ཁ) ‘རྒྱུ་བྱས་ནས་གྲུབ’—སྡེ་ཙ་ཤོག་ ༡༦ །

233 གཅིག་པའང་—སྡེ་འགྲེལ་ཤོག་༡༡༧

234 ཉགས་ལས་ཞེན་—ཡིག་རྫིང་ཤོག་༡༠।

235 རྒྱ་དང་རྒྱན་ལས་བྱེད་བྱེད་རོ། སྡེ་འགྲེལ་ཤོག་དེ་ཉིད།

236, 237 (ཀ) ཤིན་དུ་མི་འཛིན་བྱེད་དེ་མེད།

ཉགས་ལས་ཤིན་ཉགས་དེའང་མེད། ('ལ་ཞེན'—སྡེ་ཞེལ་ཙ་ཤོག་༡༠)।

ཉགས་མེད་པར་ཡང་ཡོད་མི་རིགས་སོ། སྡེ་ཙ་ཤོག་༡༩।

སྡེ་ཙ་ཤོག་༡༩ | ཉི་ཙ་ཤོག་༢༠ |

(ཁ) 'ཡོད་མི་རིགས'—སྡེ་ཞེལ་ཙ་ཤོག་༡༠ |

(ག) 'ཡོད་ནའང་ཉགས་མེད་རེ་བ་ཡིན།' ཉི་འགྲེལ་ཤོག་༡༢༣འོག་।

238 'བདགས་ལས་དེ། ཡིག་རྫིང་ཤོག་༡༠ |

239 'ཉགས་ཁྲོལ'—སྡེ་འགྲེལ་ཤོག་༡༡༧ | ཉི་འགྲེལ་ཤོག་༡༢༠ བོང་།

240 གལ་དེ་ཉགས་ལས་ཤིན། ཉགས་དེ་མེད། ཉི་འགྲེལ་ཤོག་༡༢༠ བོང་།

241 'གལ་དེ'—ཞེས་བ་སྡེ་འགྲེལ་ལ་མེད། དེ་ཉིད་ཤོག་༡༢༠ |

242 'མེད་པའི'—སྡེ་འགྲེལ་ཤོག་༡༡༧ |

243 རིགས་མ་ཡིན་—སྡེ་འགྲེལ་ཤོག་༡༢༠ |

244 གལ་དེ་ཁྲོ་དེས་གཟུགས་འཛིན་ན།

རང་གི་རང་བཞིན་ལས་འཛིན་འགྱུར། [“རང་གིས་རང་བཞིན་ལ་

འཛིན་འགྱུར།” ཉི་ཙ་ཤོག་༢༠ |]

རྒྱན་ལས་སྤྱོད་པར་ཡོད་མིན་པས། [‘སྤྱོད་པས’ སྡེ་ཙ་ཤོག་༡༩ |

སྡེ་ཙ་ཤོག་༢༠ |]

- ཡང་དག་གཟུགས་མེད་ཇི་ལྟར་འཛིན། ལྷ་ཞེས་ཅ་ཤོག། ༧ །
- 245 ‘གུར་དེ’མེ—འབྲེལ་ཤོག་དེ་ཉིད།
- 246 ཇི་སྐད་བཤད་གཟུགས་སྒྲིམ་བ་ལྟོ་འི་ [སྒྲེ་བའི་ མེ་ཅ་དེ་ཉིད།]
 སྐད་ཅིག་སྐད་ཅིག་གིས་མི་འཛིན། འདས་དང་མ་འོངས་བ་གཟུགས་
 ཀྱང་[མ་འོངས་གཟུགས་ཀྱི་ནི་ མེ་ཅ་དེ་ཉིད།]
 དེ་ཡིས་ཇི་ལྟར་རྟོགས་བར་འགྱུར། ལྷ་ཞེས་ཅ་ཤོག། ༧ །
 ལྷ་ཅ་དེ་ཉིད། ཉི་ཅ་དེ་ཉིད།
- 247 (ཀ) ‘སྐད་ཅིག་མ’—ཉི་འབྲེལ་ཤོག། ༡༢༧ འོག །
 (ཁ) སྐད་ཅིག་ཡིན་བས་—མེ་འབྲེལ་ཤོག། ༡༡༧ །
- 248 ‘འདི་ནི’—མེ་འབྲེལ་ཤོག། དེ་ཉིད།
- 249 ཁ་དོག་དབྱིབས་ཁས་སྒྲངས་—མེ་འབྲེལ་དེ་ཉིད།
- 250 ཁང་ཆོ་ནམ་ཡང་ཁ་དོག་དང་། །
 དབྱིབས་དག་ཐ་དད་ཉིད་མེད་བས། །
 དེ་དག་ཐ་དད་ཉིད་འཛིན་ཡོད་མིན། །
 གཟུགས་དེ་གཅིག་དུ་འང་གྲགས་བ་མིན། ལྷ་ཞེས་ཅ་ཤོག། ༧ །
 མེ་ཅ་དེ་ཉིད། ཉི་ཅ་དེ་ཉིད།
- 251 ‘དབྱིབས་ཐ་དད’—ཡིག་རྩིང་ཤོག། ༡༡ ། ལྷ་འབྲེལ་ཤོག། ༡༣༣ །
- 252 “གཟུགས་དང་མིག་ལ་བརྟེན་ནས་དེ།” ལྷ་ཞེས་ཅ་ཤོག། ༧ །
 ལྷ་ཅ་ཤོག། ༡༤ །
- 253 བདྲགས་ནི—ཡིག་རྩིང་ཤོག། ༡༡ ། ཉི་འབྲེལ་ཤོག། ༡༣༧ འོག །

- 254 རྣམས་ནི་ཡོད་,—སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་༡༡༧-༡༡༨ །
- 255ལྷག་མའང་དེ་བཞིན་ནོ།—ཉི་ཙ་ཤོག་༡༩ འོག་ །
སྡེ་ཙ་ཤོག་༡༩ ། ལྷ་ཞེས་ཙ་ཤོག་༩ །
- 256 ‘མིག་ནི’—ལྷ་ཞེས་ཙ་ཤོག་༩ །
- 257 གཞན་དག་—ལྷ་ཞེས་དེ་ཉིད།
- 258 དེ་ནི་གཞན་བདག་གིས་ཀྱང་སྤྱོད་༥ ། སྡེ་ཙ་ཤོག་༡༩ །
- 259 དེ་བཞིན་ནོ། ། སྡེ་ཙ་དེ་ཉིད། སྡེ་ཙ་ཤོག་༡༩ ། ཉི་ཙ་ཤོག་༡༩ འོག་ །
- 260 རང་གཞན་གྱི་—སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་༡༢༥ །
- 261 བསྟན་བ་དེ། ཉི་འབྲེལ་ཤོག་༡༢༥ བོང་།
- 262 གཞུགས་ཉིད་ཀྱི་—ཡིག་རྒྱུང་ཤོག་༡༡ ། འདི་དག་པར་སྤྱང་།
- 263 ཞེ་ན།—ཡིག་རྒྱུང་ཤོག་༡༢ ། སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་༡༢༥ །
ཉི་འབྲེལ་ཤོག་༡༢༥ བོང་།
- 264 ‘སྡོ་ཉིད་བདེན་ནས་’—སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་༡༡༨ །
- 265 རི་ལྷར་བདེན་གྲུབ་བ་ཡིན་ཞེ་ན— སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་༡༡༨ །
སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་༡༢༥ ། ཉི་འབྲེལ་ཤོག་༡༢༥ བོང་།
- 266 རྟགས་བྱ་ལ་སོགས་—སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་༡༡༨ །
- 267 རང་གི་བདག་ཉིད་དེ། སྡེ་འབྲེལ་དེ་ཉིད།
- 268 གཞན་གྱིས་—སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་༡༢༥ །
- 269 སྤྱོད་ཅོ་ཞེ་ན། ཡིག་རྒྱུང་ཤོག་༡༢ ། སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་༡༡༨ །
- 270 སྤྱོད་བདུན་ཤོ་ལོ་ཀ་ ༣ །

- 271 ཞེས་བདག་པ་བཤད་པ་ཐུར་བྱས་ཟིན་དོ། ཡིག་རྫིང་ཤོག། ༡༢།
- 272 བཤད་པ་ཡིན་ནོ། སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་དེ་ཉིད།
- 273 འབྲེལ་པ་ཡིན་ནོ། སྡེ་འབྲེལ་ཤོག། ༡༡༤ །
- 274 འབྲེལ་པ་དེ་—སྡེ་འབྲེལ་དེ་ཉིད།
- 275 རི་ཕྱེ་—སྡེ་འབྲེལ་དེ་ཉིད།
- 276 ཀྱི་སྟོང་—སྡེ་འབྲེལ་ ༡༢༩ །
- 277 (༧) ཞེས་བྱ་བ་ནི་དེ་ཡང་—སྡེ་འབྲེལ་ཤོག། ༡༢༩ ། ཉི་འབྲེལ་
ཤོག། ༡༣༥ འོག །
(ཁ) ཞེས་བྱ་བ་ནི་—སྡེ་འབྲེལ་ཤོག་དེ་ཉིད།
- 278 འདིར་མིག་དང་མིག་གི་བདག་ཉིད་བྱ་བྱེད་དུ་མི་འཐད་པ་ཇམ་གྲུབ་ཀྱི་
དབང་དུ་བྱས་སམ་སྟུམ། རྩོག་ཆ་ནས་མི་འཐད་པ་མིན་དེ། ཚད་མ་དང་
གསུམ་དུ་མི་བསྐྱུ་བའི་རེག་པ་ལ་བྱ་བྱེད་ཀྱི་རྒྱ་འབྲས་འཐད་པའི་
ཕྱིར་རོ།
- 279 སྟོང་བདུན་ཤོ་ལོ་ཀྱ་ ༥༢ །
- 280 སྟོང་བདུན་ཤོ་ལོ་ཀྱ་ ༥༢ །
- 281 མ་དཔེ་ཀུན་ལ་མཐུན་པར་—གི་ཞེས་བྱང་།
- 282 མི་མཐོང་ན་—སྡེ་འབྲེལ་ཤོག། ༡༢༩ །
- 283 གང་ཆོ་—ཉི་འབྲེལ་ཤོག། ༣༠ གོང་།
- 284 “མི་བསྟེན་ལ” —སྡེ་ཆ་ཤོག། ༣༩ །
- 285 (༧) གང་ཆོ་གཅིག་རེག་རྟེན་ཅིག་འབྱུར།

དེ་ཆོ་གཞན་ནམས་སྤོང་བ་ཉིད།

སྤོང་བའམ་མི་སྤོང་མི་སྤྲོན་ལ།

མི་སྤོང་བ་ཡང་དྲིན་མི་བདེན། སྡེ་ཙ་ཤོག་༠ ༢༩ ། སྤྲུལ་ཤོག་༠ ༢༩ །

(ཁ) སྤོང་བའང་མི་སྤོང་མི་བསྡེན་ལ།

མི་སྤོང་བ་ཡང་སྤོང་མི་བསྡེན། ལྷ་ཞེས་ཙ་ཤོག་༠ ༡ །

286 གང་གི་སྤྱེ་མཆེད་—སྤྲུལ་ཤོག་༠ ༢༩ །

287 དེ་དག་ཉིད་—ཉི་ཙ་ཤོག་༠ ༢༠ འོག །

288 ངོ་བོ་མི་གནས་ཡོད་མིན་བས།

གསུམ་འདུས་བ་ཡོད་མ་ཡིན་ནོ།

དེ་བདག་ཉིད་ཀྱིས་རིག་མེད་བས།

དེ་ཆོ་ཚར་བ་ཡོད་མ་ཡིན། སྡེ་ཙ་ཤོག་༠ ༢༩ ། ལྷ་ཞེས་ཙ་ཤོག་༠ ༡ །

སྤྲུལ་ཤོག་༠ ༢༩ །

289 'མེད་དོ'ཞེས་བཤད། ཉི་ཤུལ་ཤོག་༠ ༢༩ གོང་།

སྤྲུལ་ཤོག་༠ ༢༩ །

290 རྣ་ཤེས་ནི། སྡེ་ཙ་ཤོག་༠ ༢༩ ། ལྷ་ཞེས་ཙ་ཤོག་༠ ༡ །

ཉི་ཙ་ཤོག་༠ ༢༠ འོག །

291 སྤྱེ་བ་དེའི་ཕྱིར། སྤྲུལ་ཤོག་༠ ༢༩ །

292 དེ་ལ་འདི་སྤྲུལ་དུ་, སྤྲུལ་བར་ཤེས་བར་བྱེད་བ་ཡོད་དོ་སྤྲུལ་ན་—

སྤྲུལ་ཤོག་༠ ༢༩ ། ཉི་ཤུལ་—ཤོག་༠ ༢༩ གོང་།

- 293 རྣམ་ཤེས་ཤེས་བྱ་ལ་བརྟེན་ན། །
 འབྱུང་ལ་ཤེས་བྱ་ཡོད་མ་ཡིན།
 ཤེས་བྱ་ཤེས་བ་མེད་པའི་ཕྱིར།
 དེ་ཕྱིར་ཤེས་བ་པོ་ཉིད་མེད། ལྷ་ཞོལ་ཙ་ཤོག། ༧ ། སྡེ་ཙ་ཤོག། ༢༩ །
 ལྷ་ཙ་ཤོག། ༢༩ ། ཉི་ཙ་ཤོག། ༢༠ འོག །
- 294 བྱ་བ་ལ་བརྟེན་—སྣ་འབྲེལ་ཤོག། ༡༢༩ །
- 295 མེད་དེ། ལྷ་འབྲེལ་དེ་ཉིད།
- 296 ཤེས་པར་བྱེད་བ་ཡང་མེད་པ་ཉིད་དོ། ལྷ་འབྲེལ་དེ་ཉིད།
 ཉི་འབྲེལ་—དེ་ཉིད།
- 297 དངོས་བོ་དྲག་དང་མི་བདག་ཉིད། སྡེ་ཙ་ ༢༩ ། ལྷ་ཙ་དེ་ཉིད།
 ཉི་ཙ་ ༢༠ འོག །
- 298 ཐམས་ཅད་མི་དྲག་ཡང་ན་ནི། མི་དྲག་པ་ཡང་དྲག་པ་མེད།
 དངོས་བོ་བདག་དང་མི་བདག་ཉིད། འབྱུར་ན་དེ་ལྷ་ག་ལ་ཡོད།
 ལྷ་ཞོལ་ཙ་ཤོག། ༧ །
- 299 མདོ་ལས་—སྣ་འབྲེལ་ཤོག། ༡༢༧ ། ཉི་འབྲེལ་ཤོག། ༢༩ འོག།
- 300 ཀྱང་བ་ཕྱི་མ་གསུམ་—
 སྐྱེན་ལས་ཆགས་སྤང་གཏི་ཁྱུག་དངོས།
 འབྱུང་ཕྱིར་ཆགས་སྤང་གཏི་ཁྱུག་དང་།
 རང་བཞིན་གྱིས་ནི་ཡོད་མ་ཡིན། སྡེ་ཙ་ཤོག། ༢༩ །
 ཉི་ཙ་ཤོག། ༢༠ འོག ། ལྷ་ཙ་ཤོག། ༢༩ །

301 གང་ཕྱིར་དེ་ཉིད་ལ་ཆགས་ཤིང་།

དེ་ལ་ཞེ་སྤང་དེ་ལ་སྤོངས། །

དེ་ཕྱིར་ནས་པར་རྟོག་པས་སྦྱིང་ [བསྦྱིང་སྡེ་ཙ་དེ་ཉིད།] །

རྟོག་དེའང་ཡང་དག་ཉིད་དུ་མེད། ལྷ་ཙ་ཤོག། ༡༩ ། ཉི་ཙ་

ཤོག། ༢༠ ཤོག ། ལྷ་ཞེ་ཙ་ཤོག། ༢༡ །

302 (ཀ) རྟོག་རྟོག་བྱ་གང་—ཡིག་རྫིང་ཤོག། ༢༢ །

(ཁ) རྟོག་བྱ་གང་—སྤྱི་འགྲེལ་ཤོག། ༢༢༥ །

303 (ཀ) བྱ་གང་དེ་ཡོད་མ་ཡིན། བྱ་གང་མེད་རྟོག་ག་ལ་ཡོད།

དེ་ཕྱིར་བྱ་གང་རྟོག་པ་དག་ རྟོག་ལས་སྦྱིང་ཕྱིར་སྤོང་བ་ཉིད།

ལྷ་ཞེ་ཙ་ ༢༢ ། ལྷ་ཙ་ཤོག། ༢༣ ། ཉི་ཙ་ ༢༤ ཤོག།

(ཁ) རྟོག་ལ་སྦྱིང་ཕྱིར་། ལྷ་ཙ་ཤོག། ༢༥ །

304 ཡང་གཞན་—ཉི་འགྲེལ་ཤོག། ༢༢༥ ཤོག།

305 དེ་ཉིད་རྟོག་པས་ཕྱིན་ཅི་ཡོག་ །བཞི་ལས་བྱང་ངའི་མ་རིག་མེད།

དེ་མེད་ན་ནི་འདྲ་བྱེད་ནམས། མི་འབྱུང་ལྷན་མཁའ་དེ་བཞིན་ནོ།

ལྷ་ཞེ་ཙ་ཤོག། ༢༦ ། ལྷ་ཙ་ཤོག། ༢༧ ། ལྷ་ཙ་ཤོག། ༢༨ །

ཉི་ཙ་ཤོག། ༢༩ ཤོག།

306 ‘མེད་པ’—ཡིག་རྫིང་ཤོག། ༢༣ ། ལྷ་འགྲེལ་ཤོག། ༢༢༥ །

307, 308 གང་གང་ལ་བདེན་སྦྱིང་བའི་དངོས། དེ་དེ་མེད་པས་དེ་མི་སྦྱིང་།

དངོས་དང་དངོས་མེད་འདྲས་བྱས་དང་།

འདྲས་མ་བྱས་འདི་བྱ་ངན་འདས།

སྡེ་ཙ་ཤོག་ ༢༩ ། ལྷ་ཞོལ་ཙ་ཤོག་ ༧ ། ལྷ་ཙ་ཤོག་ ༢༩ །

ཉི་ཙ་ཤོག་ ༣༠ བོང་།

309 'ཉིད་དུ'—ལྷ་ཞོལ་ཙ་ཤོག་ ༧ ། སྡེ་ཙ་ཤོག་ ༢༩ ། ཉི་ཙ་ཤོག་ ༣༠ བོང་།

310 འཛིན་པ་དང་། སྡེ་འགྲེལ་ཤོག་ ༡༢༠ །

311 (ཀ) དངོས་པོ་སྤོང་པར་ངེས་རྟོགས་ན། ཡང་དག་མཐོང་ཕྱིར་སྤོངས་

མི་འགྱུར། ། ལྷ་ཞོལ་ཙ་དེ་ཉིད། ལྷ་ཙ་དེ་ཉིད།

(ཁ) དངོས་པོ་སྤོང་པར་དེ་རྟོགས་ནས། སྡེ་ཙ་དེ་ཉིད། དེ་རྟོགས་ན།

ཉི་ཙ་ཤོག་ ༣༠ བོང་།

312 'དེ་ལས་'—ལྷ་ཞོལ་ཙ་ཤོག་ ༧ ། སྡེ་ཙ་དེ་ཉིད། ལྷ་ཙ་དེ་ཉིད།

313 རང་བཞིན་སྤོང་པ་—སྡེ་འགྲེལ་ཤོག་ ༡༢༧ །

314 ཤེས་ནས་—ཉི་འགྲེལ་ཤོག་ ༡༢༧ བོང་།

315, 316 མི་འགྱུར་བ་དེ་ནི་—ཉི་འགྲེལ་ཤོག་ ༡༢༧ ། སྡེ་འགྲེལ་ཤོག་ ༡༢༠ །

317 ཡན་ལ་བཅུ་—སྡེ་འགྲེལ་ཤོག་ ༡༢༠ །

318 ལྷ་ས་སྡེག་གྲུ་སྡེ་ཤད་དང་། ། དབྱ་བ་ཅུ་བར་སྒྲུལ་བ་དང་།

མི་ལས་འགལ་མེད་འཁོར་ལོ་མཚུངས། ། ལྷ་ཞོལ་ཙ་དེ་ཉིད།

ལྷ་ཙ་དེ་ཉིད། ཉི་ཙ་དེ་ཉིད།

319 ཤེས་པ་—སྡེ་འགྲེལ་ཤོག་ ༡༢༠ །

320 རང་བཞིན་གྱིས་ནི་འགའ་ཡང་མེད། ། ལྷ་ཞོལ་ཙ་དེ་ཉིད།

ལྷ་ཙ་དེ་ཉིད། ཉི་ཙ་དེ་ཉིད།

- 321 ཡོག་འདི་ནི་—ཉི་ཅ་དང་, ལྷ་ཞེས་ཅ་བ་དང་, ཡིག་རྫིང་དང་, སྡེ་འབྲེལ་
ནམས་སུ་འདུག་ཀྱང་། སྡེ་ཅ་ཡོགས་སུ་ཡོད་པ་, ཡོ་ཙྰ་བ་གཞིན་གྱི་
མཆོག་ལ་སོགས་པའི་འབྲུང་ལ་མི་སྤང་ངོ་།།
- 322 མཚུངས་པ་མེད་པར་...། སྡེ་འབྲེལ་གྱི་ཤོག་ཤོག་ ༡༢༠ །
- 323 དངོས་ཀྱི་རང་བཞིན་སྤྱོད་པས་ན།།
དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་མཚུངས་མེད་པས།།
རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་བར་འབྲུང་བ་འདི།།
དངོས་བོ་ནམས་སུ་ཉི་བར་བསྟན།། ལྷ་ཞེས་ཅ་གྱི་ཤོག་ ༡ །
སྡེ་ཅ་གྱི་ཤོག་ ༢༩ ། སྡེ་ཅ་གྱི་ཤོག་ ༢༩ ། ཉི་ཅ་དེ་ཉིད།
- 324 རྟེན་ནས་—ཡིག་རྫིང་གྱི་ཤོག་ ༡༣ ། སྡེ་འབྲེལ་གྱི་ཤོག་ ༡༢༤ །
- 325 (ཀ) དམ་པའི་རྟེན་ནི་དེར་ཟད་དེ།།
འཇིག་རྟེན་ངོར་བྱས་ཐ་སྟེན་དག །
སྡེ་ཆོགས་ཐམས་ཅད་རྫོགས་སངས་གྱུས།།
བཅོས་ལྷན་འདས་ཀྱིས་བདེན་བརྟགས་མཛད།། ལྷ་ཞེས་ཅ་གྱི་ཤོག་ ༡ །
ཉི་ཅ་དེ་ཉིད།
(ཁ) བདེན་བརྟགས་མཛད།། སྡེ་ཅ་གྱི་ཤོག་ ༢༩ ། སྡེ་ཅ་དེ་ཉིད།།
- 326, 327 བརྟག་པར་ཟད་དོ།། སྡེ་འབྲེལ་གྱི་ཤོག་ ༡༢༠ །
- 328 “ཆོས་བསྟན་མེད” —སྡེ་ཅ་གྱི་ཤོག་ ༢༩ །
- 329 འཇིག་རྟེན་པ་ཡིས་ཆོས་བསྟན་མི་འཇིག་ཅིང་།།
ཡང་དག་ཉིད་དྲ་ནས་ཡང་ཆོས་བསྟན་མེད།།

- 326, 327 བདེན་པར་ཟད་དོ། མེ་འབྲེལ་ཤོག་༠༣༠།

- 328 “ཆོས་བསྟན་མེད”-སྡེ་ཙུ་ཤེས་པ་ ༣༦།

- 329 འཛིག་རྟེན་པ་ཡིས་ཆོས་བསྟན་མི་འཛིག་ཅིང་།

- ཡང་དག་ཉིད་དྲ་ནས་ཡང་ཆོས་བསྟན་མེད།

དེ་བཞིན་གཤེགས་པས་གསུངས་པ་མ་རིག་པས།

དེ་ལས་རྩི་མེད་བཟོད་པ་འདི་ལ་སྒྲག། ལྷ་ཞོལ་ཙ་ཤོག། ༥ །

སྤྱི་ཙ་ཤོག། ༡༩ །

330 མི་ཤེས་དེ་—སྤེ་འགྲེལ་ཤོག། ༡༢༠།

331 “འདི་ལ་བརྟེན་ནས་”—སྤྱི་ཙ་དེ་ཉིད། ཉི་ཙ་དེ་ཉིད། སྤེ་ཙ་དེ་ཉིད།

332, 333 འདི་ལ་བརྟེན་ལས་འདི་འབྱུང་ཞེས།

འཇིག་རྟེན་ཚུལ་འདི་མི་འགོག་ཅིང་།

གང་རྟེན་རང་བཞིན་མེད་པས་དེ།

རྩི་ལྷར་ཡོད་འགྱུར་དེ་ཉིད་ངེས། ལྷ་ཞོལ་ཙ་ ༥ །

སྤྱི་ཙ་ཤོག། ༡༩ ། ཉི་ཙ་ཤོག། ༢༠ གོང་།

334 (ག) “འདི་ལ་བརྟེན་ནས་” ཞེས་སོགས་འདི་, འགྲེལ་བའི་མཚམས་

སྤྱིར་དུ་ཙ་བ་བྲངས་པ་ཡིན་པས་, འགྲེལ་བའི་ཁོང་གཏོགས་སོ།

(ཁ) “འཇིག་རྟེན་པ་ཡིས་ཆོས་བསྟན་” ཞེས་སོང་གི་ཆོད་བཅད་འདི་ལ་

ཁྱེ་འགྲེལ་དུ་ཡང་ཀྱང་པ་བཅུ་འདུག་མོད་, དཔལ་གཞན་ལ་ཕན་པའི་

འགྲེལ་བར་—“འཇིག་རྟེན་ཆོས་ཅན་མི་འཇིག་ཅིང་།” ཞེས་ཀྱང་བ་

བརྒྱུད་རང་འདུག །སྤོང་བདུན་འགྲེལ་པ་ཤོག། ༢༡༡ དབྱ་མ་ཡ་, སྤེ།

335 ལྷུ་བ་འདིར་—སྤེ་འགྲེལ་ཤོག། ༡༢༡ །

336 (ག) དད་ལྷན་དེ་ཉིད་ཆོལ་ལ་བརྟེན།

ཚུལ་འདི་རིགས་པ་རྩིས་དཔོག་གང་།

རྟེན་མེད་ཆོས་འགའ་བསྟན་པ་ཡིས།

མིད་དང་མིད་མིན་སྤངས་ནས་ཞི། ལྷ་ཞེལ་ཙ་ཤོག། ༡།

(ཁ) ‘ཆོས་འགལ་’—ཉི་ཙ་ཤོག། ༣༠ འོག།

(ག) དང་ལྷན་དེ་ཉིད་ཆོས་ལ་བརྩོན།

ཚུལ་འདི་རིགས་པས་རྗེས་དཔོག་གང་།

བརྩོན་མེད་ཆོས་འགལ་བརྩོན་པ་ཡི། ལྷ་ཙ་ཤོག། ༣༡ ། ལྷ་ཙ་ཤོག། ༣༢།

337 གང་ཞིག་—ཡིག་རྩིང་ཤོག། ༡༣ ། ལྷ་འགྲེལ་ཤོག། ༡༣༤ །

338 ‘སྤང’—སྤེ་འགྲེལ་ཤོག། ༡༣༧ །

339 (ག) འདི་དག་ཀྱང་འདི་ལས་རིག་ནས། ལྷ་ངན་དྲ་བ་ཀྱན་ཡོག་དེས།

ཆགས་སྤངས་ཁོངས་ཁོང་བྱོ་སྤངས་པའི་ཕྱིར། མ་གོས་བྱ་ངན་འདས་པ་ཐོབ།

ལྷ་ཞེལ་ཤོག། ༡།

(ཁ) “ཀྱན་ལྷོག་”—སྤེ་ཙ་ཤོག། ༣༣ ། ཉི་ཙ་ ༣༠ འོག།

340 “བད་སྤྱོད་པ་ཆེན་པོ་, བཟུན་བཅོས་ཐམས་ཅད་འཆད་པར་བཞེད་པ་,
སྤོབ་དཔོན་འཕགས་པ་ཁྱ་སྤྱབ་ཀྱིས་མཛད་པ་རྫོགས་སོ།” —ཡིག་རྩིང་
ཤོག། ༡༣ ། ཉི་འགྲེལ་ཤོག། ༡༣༤ བོང་།

341 དཔེ་ཀྱན་གྱི་འགྱུར་བྱང་མི་མཐུན་པར་འདུག་ཀྱང་, ཡིག་རྩིང་རང་
འགྲེལ་དེ་ལ་འགྱུར་བྱང་མི་གསལ་ཡང་, ཡེ་ཤེས་སྤེའི་སྤྱར་དང་པལ་
ཆེར་མཐུན་པར་སྤྱང་ངོ།

